स्वाध्याय सर्वस्व

आचार्य कृष्ण

स्वाध्याय सर्वस्व

आचार्य कृष्ण

प्रकाशक :
पं० नरेन्द्र
प्रधान, आ. प्र. स. म. दक्षिण
हैदराबाद

मूल्य : १–५०

प्रथम संस्करण १०००

मुद्रक
हिन्दी प्रेस, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद

॥ ओ३म् ॥

दो शब्द
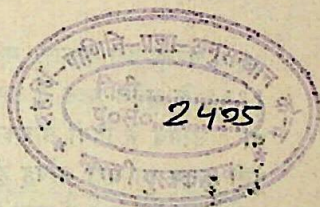
न मैं विद्वान् हूँ न मैं लेखक, यह मेरा पहला प्रयास है। इसमें अनेकों भूलें होना स्वाभाविक है। ग्रंथ नाम के अनुरूप बन पाया है, ऐसा कहना धृष्टता होगी। "नहि सर्वः सर्वं जानाति" कि उक्ति के होते हुए भी किसी को सर्वस्व नाम देना दुःसाहस मात्र है। फिर स्वाध्याय जैसे विषय पर सब कुछ लिखना अति दुष्कर है। सञ्जीवनी लेने गये हनुमान की भाँति मैंने भी आमूल स्वाध्याय संजीवनी लाने का प्रयत्न किया है; इसमें जो भाग जिसके लिए उपयोगी हो, वह लेकर अपने रोग को दूर कर ले। स्वाध्याय के बारे में कोई बात छूटने न पाये, ऐसा यत्न किया गया है। यह तो विज्ञ पाठक-गण जब ग्रंथ का आद्योपान्त अनुशीलन करेंगे तो स्वाध्याय से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का समाधान पायेंगे। स्वाध्याय की महिमा, स्वाध्याय शब्द का अर्थ, स्वाध्याय के लाभ, आदि पर यथा सम्भव प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। स्वाध्याय शब्द के अर्थ पर मतभेद होना सम्भव है। गुरुजनों के तो कोप का भाजन भी बनूंगा। परन्तु वह मेरे लिए वरदान और समाधान ही सिद्ध होगा। बारह वर्ष के दीर्घ प्रचार-सत्र में यह समस्या सदा सामने आती रही है कि आर्य जन परम धर्म का पालन कैसे करें? बस इसी ऊहा-पोह ने ग्रंथ का यह रूप ले लिया।

मैं यह कदापि न लिख पाता, यदि मेरी भानजी (पुत्री) कु० कुसुमलता आर्या का आग्रह न होता, मैं स्वभाव से ही लिखने में आलसी हूँ। कदाचित् लिखता भी हूँ तो न जाने उसे कितनी बार काटता हूँ। फिर भी यही शंका बनी रहती है कि यह ठीक भी है वा नहीं? यह कैसे लिखा गया मुझे स्वयं आश्चर्य है।

घटना इस प्रकार घटी कि मैं अपनी बहिन और भानजी के साथ १९६६ के अप्रैल मास में महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव पर गया हुवा था। उत्सव के दिनों सायंकाल गंगनहर के किनारे भ्रमणार्थ निकलते तो पुत्री कुसुम का यही आग्रह होता कि मामाजी कुछ सुनाइए। उसके विशेष आग्रह को मैं टाल न सका और उसे स्वाध्याय के बारे में लगातार तीन-चार दिन सुनाता रहा। उसे यह इतना भाया कि जब वह वनस्थली विद्यापीठ में टी. डी. सी. का द्वितीय वर्ष कर रही थी, तो उसने २२-७-६६ को मुझे एक पत्र लिखा जिसमें यह पंक्तियाँ लिखीं थी। "मामा! आप प्रातः का डेढ़ दो घण्टे का समय मुझे दे दीजिये। आशा से मांग रही हूँ दे दोगे ना? आप मुझे किसी बात से मना नहीं करते, इसको भी नहीं करेंगे मुझे पूर्ण विश्वास है, अच्छा तो दे दिया ना? हाँ! तो अब मैं कहती हूँ कि इसे लेख लिखने हेतु दे दें और मुझे वही कुछ लिख भेजें जो महाविद्यालय के उत्सव पर स्वाध्याय के सम्बन्ध में सुनाया था।" पुत्री कुसुम ने स्वयं ही समय माँग लिया और मेरी ओर से स्वीकृति भी समझ ली। बस इस स्वीकृति का परिणाम यह हुआ कि मैं प्रति दिन लिखने लगा जिसका परिणाम अत्यन्त शुभ हुआ। जिसकी मुझे कल्पना भी न थी। पत्र रूप में लिखे गये लेखों ने लघु ग्रंथों का रूप ले लिया। पश्चात् उससे वही पत्र वापिस लेकर काट छांट कर पुस्तक का रूप दे दिया है। इस प्रकार यह "स्वाध्याय सर्वस्व" ग्रंथ आपके करकमलों में है। सचमुच पुत्रियाँ कितना कल्याण करती हैं, अब समझ में आया, जब अनायास ही इन लेखों ने तीन लघु ग्रंथों का रूप ले लिया। अगला लघु ग्रंथ "उपनयन सर्वस्व" बहुत ही शीघ्र आपके हाथों की शोभा होगा। इसके लिए पुत्री कुमारी कुसुमलता को अनेकशः आशीर्वाद देता हूँ। तथा मैं हिन्दी आर्टस् कॉलेज के प्राचार्य श्री कृष्णदत्त जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने भाषा संशोधन में सहयोग दिया।

मैं स्वाध्याय प्रेमी धर्मनिष्ठ श्री रामरक्खा जी ढांढा सिकन्दराबाद का आभार प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकता। जिन्होंने पुस्तक प्रकाशन का
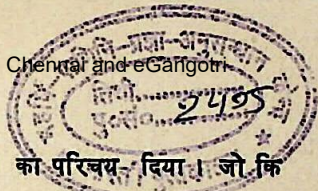
भार वहन कर अपनी स्वाभाविक उदारता का परिचय दिया। जो कि मेरे प्रति वर्षों से चली आ रही है। अन्यथा यह पुस्तक कदापि न छप सकती।

श्रद्धेय श्री पं. नरेन्द्र जी, (प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य दक्षिण) ने पुस्तक को मूर्तरूप देने में पूर्ण सहयोग दिया है। उनका सहज स्नेह और आत्मीयता का यह परिणाम है कि इसका प्रकाशन भाग्यनगर (हैदराबाद) में सम्भव हो सका। उनके प्रोत्साहन से ही मैं वेद प्रचार में संलग्न हो पाया, और अब लेखन कार्य में उनकी प्रेरणा ही मुझे अग्रसर कर रही है। अतः मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

यदि मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज (पं. बुद्धदेव जी विद्यालंकार) को भुला दूं तो यह कृतघ्नता होगी। उनके चरणों में बैठ कर जो ज्ञान प्रसाद पाया है उसे अपने निर्बल हाथों से बाँटते हुए हर्ष होता है। इसमें जो कुछ भी माधुर्य है, सरसता है स्नेह है सब उनका है, शुष्कता नीरसता मेरी अपनी है। विज्ञपाठकगण शुष्कता और नीरसता पर ध्यान न देकर इसके माधुर्य और सरसता का ही लाभ लेंगे।

सार्वदेशिक दशम आर्य महासम्मेलन पर "स्वाध्याय सर्वस्व" नामक पुस्तक को प्रकाशित करने का एक मात्र यही प्रयोजन है कि आर्यजन स्वाध्याय में प्रवृत्त हों, आशा है यह मेरी पुकार अवश्य सुनी जायेगी, यदि आर्यजन नित्य स्वाध्याय का संकल्प ले लें, तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

मेरे प्रमाद से पुस्तक अत्यन्त अशुद्ध छपी है जिसका मुझे खेद है।

विजय दशमी सम्वत् २०२५

आचार्य कृष्ण

श्री रामरक्खा जी ढांडा बी० ए०

॥ ओ३म् ॥

श्री रामरक्खा जी ढांढा, बी० ए०

एक परिचय

आपका जन्म २४ सितम्बर सन् १८९८ लुधियाना (पंजाब) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ। आपके पितामह को आनन्दकन्द महर्षि दयानन्द के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में संपन्न हुई जहां आपको स्वनाम धन्य अमर शहीद लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, तथा देवतास्वरूप भाई परमानन्द आदि के सत्संग तथा उनके अमृत वचनों (उपदेशों) को सुनने का सुयोग सुलभ होता रहा।

सन् १९३३ ई० में आप सिकन्दराबाद आये। यहां आपने-अपने बहनोई दानवीर, कर्मवीर तथा सुप्रसिद्ध समाज सेवी श्रीयुत् मुंशीराम जी दुसाज के उदार सहयोग से लोहे का कारखाना स्थापित किया। श्री मुंशी-राम जी दुसाज इतने उदार तथा सहृदय थे कि बात की बात में आपने आर्य समाज सिकन्दराबाद को २५००० रुपये की भूमि भवन निर्माण के लिये दान कर दी। आज जब कि मुंशीराम जी हमारे बीच में नहीं हैं पर उनसे प्रेरणा प्राप्त करके उनके, द्वारा दान दी गई भूमि पर विशाल भवन निर्माण कराने का बहुत सा श्रेय श्री रामरक्खा जी को है।

आप व्यापारी हैं। पर व्यापार के साथ-साथ सामाजिक कार्यों में भी सदा भाग लेते रहते हैं। आर्य समाज सिकन्दराबाद के आप कई वर्ष अध्यक्ष रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य दक्षिण के उपाध्यक्ष तथा कोषाध्यक्ष रहे। आर्यन् कोऑपरेटिव बैंक के आप कई वर्षों से अध्यक्ष हैं। सिकन्दराबाद हिन्दी विद्यालय तथा सरस्वती कन्या विद्यालय सिकन्दराबाद की स्थापना में भी आपका प्रमुख हाथ रहा है।

अब व्यवसाय से हटकर वानप्रस्थी का सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपकी एक मात्र अभिलाषा है कि संसार में वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार हो। और आर्य समाज का कार्य निरन्तर प्रगति करे। भगवान् से प्रार्थना है कि वह आपको चिरायु करें। इति शम्।

।।।

आराम नहीं आश्रम :

कुछ वर्ष पहले राष्ट्र में सर्वत्र एक उद्घोष सुनाई देता था। "आराम हराम है" सर्वत्र इसकी सराहना हुई। यह चर्चा का विषय बना। मैंने विचार किया कि क्या वास्तव में यह नया उद्घोष है ? मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि नहीं, यह कोई नयी खोज नहीं है। हम वैदिकों में आराम का कोई महत्व नहीं। इसके विपरीत श्रम को तो महत्व है। हमारे लिए आराम सदा ही हराम रहा है। इसका प्रमाण हमारी जीवन व्यवस्था है। उस व्यवस्था को हम कहते ही आश्रम व्यवस्था हैं। अर्थात् वह जीवन व्यवस्था जिसमें श्रम ही श्रम है। इसके व्यवस्थापकों की दृष्टि

में तो श्रम शब्द भी अपर्याप्त था, इसी लिए उसके पूर्व आङ् लगाकर आश्रम शब्द निर्माण किया, जिसने श्रम शब्द के महत्व को सहस्रगुणित कर दिया। श्रम नहीं, अपितु परिपूर्ण श्रम, सब ओर से श्रम, आश्रम। वर्तमान युग ने तो श्रम शब्द से "आ" को हटाकर श्रम के महत्व को ही कम कर दिया है। इसी लिए किसीने आङ् उपसर्ग का उपयोग राम शब्द से पहले करके आराम का निर्माण कर लिया, अन्यथा आराम का अस्तित्व ही कहाँ होता। न "आ" को श्रम से पृथक् किया जाता न आराम बनता। फिर तो आश्रम होता——परिपूर्ण श्रम, सब ओर से श्रम, मुकम्मिल श्रम।

चरैवेति-चरैवेति :

वैदिक मनीषियों ने मनुष्य जीवन के महत्व को समझकर ही आश्रम मर्यादा का निर्माण किया था। उनकी दृष्टि में चलते रहने का नाम ही जीवन था। "चरैवेति-चरैवेति" ही उनका उद्घोष था। तभी तो जीवन के आरम्भ से अन्त तक चलना ही चलना था। जहाँ प्रथम आश्रमी को ब्रह्मचारी कहते थे। वहाँ चतुर्थ-आश्रमी को परिव्राट् कहते थे। दोनों ही का काम चलते रहना था। यदि एक का काम ब्रह्म की तलाश में चलना था, तो दूसरे का काम ज्ञात ब्रह्म को लोगों तक पहुँचाने के लिए चलना था। जब तक ब्रह्म की प्राप्ति न हो जाए चलते रहो, "ब्रह्म इष्णन् चरति इति ब्रह्मचारी"। और जब ब्रह्म को प्राप्त कर लो तो उसे लोगों तक पहुँचाने के लिए चलते रहो। घर-घर जाकर, परिव्रजन करते हुए ब्रह्म को लोगों तक पहुँचाओ। एक ब्रह्म की तलाश में चले, तो दूसरा ब्रह्म को पहुँचाने में चले।

आश्रम का महत्व :

वैदिक संस्कृति में व्यक्ति के जीवन को जिस मर्यादा से अभिहित किया जाता है उसे आश्रम व्यवस्था कहते हैं। इसका विभाजन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम से किया गया है। इनके साथ आश्रम शब्द का उपयोग ही यह सूचित करने के लिए है कि व्यक्ति का कोई भी क्षण श्रमहीन नहीं बीतना चाहिए। कुमार हो अथवा वृद्ध, युवा हो अथवा प्रौढ़, श्रम तो करना ही होगा। श्रम शब्द से पूर्व जुड़ा हुआ आङ् मर्यादा और अभिविधि का सूचक है। यहाँ अभिविधि अर्थ ही अभीष्ट है। अभिविधि का अर्थ यह है कि जिस संज्ञा के साथ आङ् का उपयोग होगा उससे आङ् अपने में सम्मिलित करा लेता है। यहाँ आश्रम शब्द का अर्थ हुआ श्रम को सम्मिलित करके। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी कोई भी आचरण करते हुए यह देखे कि इस में श्रम सम्मिलित है वा नहीं। यदि सम्मिलित है तो उनका ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ-संन्यास जीवन आश्रम-मय है, अन्यथा आश्रम-शून्य।

स्वाध्याय श्रम :

यह ज्ञात हो जाने पर कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्रत्येक विभाग में श्रम करना चाहिए, यह जानना आवश्यक है कि ऐसा कौनसा श्रम है जिसे आचरण में लाकर ही व्यक्ति आश्रम संज्ञा को प्राप्त करता है। वह कौनसा श्रम है जो चारों ही आश्रमियों के लिए समान कर्त्तव्य हो। विचार करने पर ज्ञात हुआ कि स्वाध्याय ही वह श्रम है, जिसे सम्मिलित किये बिना

व्यक्ति का जोवन आश्रम शब्द से युक्त नहीं किया जा सकता। स्वाध्याय ही वह श्रम है जो सभी आश्रमियों के लिए तुल्य श्रम है। क्या ब्रह्मचारी के लिए और क्या संन्यासी के लिए। यही वह श्रम है जिसमें अनध्याय नहीं। "स्वाध्याये नास्त्यनध्यायो ब्रह्म सत्रं हि तत् स्मृतम्।" मनु २–१०६। स्वाध्याय में छूट नहीं, क्योंकि इसे ब्रह्मसत्र अथवा ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।

संन्यासी सभी काम्य कर्मों का न्यास (त्याग) कर सकता है, परन्तु स्वाध्याय का त्याग नहीं कर सकता।

> संन्यसेत् सर्व कर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
> वेद संन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्॥ मनु. ६–९५

सभी काम्य कर्मों को त्याग दे, परन्तु वेद को न त्यागे। स्वाध्याय ही ऐसा श्रम है जो चारों आश्रमियों के लिए तुल्य और आवश्यक है। इसी स्वाध्याय श्रम से ही आश्रम शब्द की सार्थकता है।

> मनुष्य जीवन की सार्थकता आश्रम से है।
> आश्रम शब्द की सार्थकता स्वाध्याय श्रम से है।

स्वाध्याय परम श्रम है :

स्वाध्याय न केवल सामान्य श्रम है अपितु परमश्रम है। इस द्यावापृथिवी में जितने भी श्रम गिनाये जा सकते हैं, उनमें स्वाध्याय पराकाष्ठा है, सीमा है, परला सिरा है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ये ह वै के च श्रमाः । इमे द्यावापृथिवी अंन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमताकाष्ठा' । शतपथ ११–५–७–२

इस द्यौलोक और पृथिवीलोक के मध्य जो कोई भी श्रम हैं, स्वाध्याय उन सब की पराकाष्ठा है ।

व्यक्ति अपने जीवन निर्वाह के लिए अनेक प्रकार के श्रम करता है । सभी श्रम करते हुए यदि उसने स्वाध्याय श्रम नहीं किया, तो सब व्यर्थ हैं । इसे परम श्रम कहने का आशय भी यही है कि व्यक्ति स्वाध्याय श्रम को कसौटी बना ले, यदि अन्य श्रम स्वाध्याय में बाधक हों तो छोड़ दे, यदि इसके साधक हों तो करे । स्वाध्याय के लिए सामान्य श्रमों का त्याग संभव है । सामान्य श्रम के लिए स्वाध्याय श्रम का त्याग संभव नहीं । स्वाध्याय श्रम को त्यागकर अन्यत्र श्रम करने का परिणाम क्या होगा ? मनु लिखते हैं ।—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वं आशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु० २–१६८

अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) स्वाध्याय श्रम न करके अन्यत्र श्रम में लगा रहता है वह बहुत शीघ्र ही सपरिवार शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार आपने देखा कि जहाँ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमी के लिए स्वाध्याय-श्रम विहित है, वहाँ द्विज मात्र के लिए भी स्वाध्याय-श्रम आवश्यक है ।

यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मणत्व प्राप्त करना चाहे, तो अनेक साधनों में से स्वाध्याय को ही प्राथमिकता है ।

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।। मनु० २–२८

स्वाध्याय, विचार करने कराने, होम के अनुष्ठान शब्द-अर्थ सम्बन्ध सहित वेद को पढ़ने, पौर्णमासी आदि इष्टि के करने, पुत्रोत्पादनादि तथा पंचमहायज्ञों से यह शरीर ब्राह्मण का किया जाता है ।

स्वाध्याय परम तप है :

जहाँ ब्रह्मचारी के लिये लिखा है कि वह श्रम से जगत् को पालित और पूरित करता है, वहाँ यह भी लिखा है कि वह तप से भी लोकों को पालित-पूरित करता है । "सर्वान्त्स लोकान्स्तपसा-पिपर्ति" वह सभी लोकों को अपनी तपस्या से पालित और पूरित करता है । वही क्यों ? समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रम और तप से ही लोकों को पालित और पूरित करता है । भगवान् याज्ञवल्क्य और भगवान् मनु दोनों ही स्वाध्याय को परम तप कहते हैं । भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं :—"यदि ह वा अप्यभ्क्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते आहैव स नखाग्रेभ्यः 'परमं' तप्यते 'तपः' । शतपत ब्राह्मण" ११-३-७-४

यद्यपि कोई व्यक्ति सुगन्धित तैल लगाकर और श्रृंगार किये हुए, अच्छी प्रकार से सुखदायक बिछौने पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है तो समझना चाहिए कि वह चोटी से नाखुन के अग्रभाग तक परमतप कर रहा है । यही बात मनु ने कही है :—"आहैव स नखाग्रेभ्यः 'परमं' तप्यते 'तपः' स्रग्व्यति द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोन्वहम् ।" मनु० २–१६७ । जो द्विज सुगन्धित

माला धारण किये हुए भी यथा सामर्थ्य प्रति दिन स्वाध्याय करता है, निश्चय जानो वह नखाग्र पर्यन्त परमतप कर रहा है। "वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।" मनु० २–१६६ ब्राह्मण तप करते हुए सदा वेदाभ्यास करें। वेदभ्यास ही ब्राह्मण का 'परम तप' है।

स्वाध्याय परम धर्म है :

स्वाध्याय के इसी महत्त्व को समझकर वर्तमान् युग के प्रवर्त्तक भगवान् दयानन्द ने स्वाध्याय को परम धर्म कहा है। उन्होंने आर्य समाज के तीसरे उद्देश्य में इसकी स्पष्ट घोषणा की है कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का "पढ़ना" "पढ़ाना" और "सुनना" "सुनाना" आर्यों का परम धर्म है। वेद का 'पढ़न, स्वाध्याय' और 'पढाना और सुनाना' प्रवचन कहाते हैं। जिसे भगवान् याज्ञवल्क्य ने परम श्रम, भगवान् मनु ने परम तप, उसे ही भगवान् दयानन्द ने परम धर्म कहा है। अतः स्वाध्याय परम-श्रम, परम-तप, व परम-धर्म तीनों ही है।

महर्षि दयानन्द के परम धर्म चतुष्टय में से तीन पढना का स्वाध्याय में, पढ़ाना और सुनाना का प्रवचन में समावेश हो गया, परन्तु सुनना परम धर्म फिर भी छूट गया। इसका अपना ही महत्व है। उसका वर्णन यथा स्थान करेंगे। भगवान् मनु ने भी स्वाध्याय को परम धर्म कहा है।

> वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथा कालमतन्द्रितः।
> तं ह्यस्याहुः परं-धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ मनु० ४–१४७

सर्वदा आलस्य रहित होकर यथावसर वेद ही को पढ़ें क्योंकि यह इसका परम धर्म है। और दूसरे धर्म इससे नीचे हैं।

स्वाध्याय परम श्रम है। स्वाध्याय परम तप है। स्वाध्याय परम धर्म है। इस लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः। शत्. ११–३–७–४

परम स्कन्ध :

छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने धर्म रूपी वृक्ष के स्कन्धों का वर्णन करते हुए स्वाध्याय को प्राथमिकता दी है। "त्रयो धर्म स्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमम्।" छान्दोग्य २-२३-१ धर्म के तीन स्कन्ध हैं उनमें से यज्ञ, अध्ययन और दान प्रथम हैं। स्कन्ध शब्द का अर्थ जहाँ कन्धा है वहाँ वृक्ष के तने अथवा प्रकाण्ड को भी कहते हैं। वहीं से सभी-शाखा प्रशाखाएं फूटती हैं। उसी से पत्र-पुष्प-फल का उद्गम होता है। समस्त भार का वहन भी वही करता है। मनुष्य के कन्धे को भी स्कन्ध इसी लिए कहते हैं कि भार ढ़ोने का अवसर आये, तो इन्हें ही आधार बनाया जाता है। तद्वत् स्वाध्याय वह प्रकाण्ड है जिसमें से अर्थ कामरूप शाखा प्रशाखाएँ फूटती हैं, यश और पुण्यरूप पुष्प और फल लगते हैं। जो व्यक्ति स्वाध्याय स्कन्ध को आधार बनाते हैं, उनके परिवार में धर्मानुकूल अर्थ और काम की शाखाएँ फूटती हैं और उनमें यश और पुण्य के पुष्प और फल लगते हैं। इस लिए जहाँ स्वाध्याय परम श्रम है, स्वाध्याय परम तप है,

स्वाध्याय परम धर्म है, वहाँ स्वाध्याय परम स्कन्ध है। इस लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। तस्मात् "स्वाध्यायो—अध्येतव्यः।" शतपथ ब्राह्मण ११—३—७—४

स्वाध्याय परम योग है :

भगवान् पतंजलि ने भी इसके महत्व को समझा था इसी लिए उन्होंने योग के यम नियमादि अष्टांगों में स्वाध्याय की गणना भी की। जहाँ पाँच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा वहां नियमों को उन महाव्रतों के पालन में सहयोगी बताया है। "शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः।" यो० सा० पा० २—३२। स्वाध्याय और योगको परस्पर एक दूसरे का पूरक बताते हुए व्यास भाष्य में लिखा है, "स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्याय मामनेत्।" "स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।"यो०द०। व्यक्ति स्वाध्याय से चित्तवृत्तियों का निरोध करे और चित्तवृत्ति निरोध से स्वाध्याय का मनन करे। चित्तवृत्ति निरोध और स्वाध्याय के मनन से परमात्मा प्रकाशित होता है। जहाँ परमात्मा प्रकाशित होता है, वहाँ इच्छित दिव्य गुणों की सिद्धि भी होती है। इसी का वर्णन महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है, "स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।" यो० द० साधन पाद २—४४। सिद्ध हुए स्वाध्याय से स्वाध्यायशील व्यक्ति को अभीष्ट गुणों अथवा अभीष्ट गुणवान् विद्वानों का साक्षात्कार होता है। इष्ट देवता का साम्प्रयोग होने से स्वाध्याय परम योग है।

स्वाध्याय परमयज्ञ है :

भगवान् मनु ने "पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथा शक्ति न हापयेत्" यथा शक्ति न हापयेत् लिखकर प्रत्येक गृहस्थी के लिए पंचमहायज्ञों

का विधान किया है कि कोई गृहस्थ यथा सामर्थ्य इन पंचमहायज्ञों को त्यागे नहीं। यह उसके नित्यकर्म हैं। इन पंचमहायज्ञों में ब्रह्म यज्ञ को प्रधानता है, मुख्यता है। आपस्तम्ब सूत्रकार, शतपथकार और भगवान् मनु स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। ब्रह्मयज्ञो हवाहवा एष यत् स्वाध्यायः। आप० ध० सू० १—४—१२—१। इसी प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य ने तो न केवल स्वाध्याय को ब्रह्म यज्ञ कहा है अपितु उन्होंने स्वाध्याय यज्ञ के भिन्न-भिन्न पात्रों का वर्णन भी किया है। जिस प्रकार अग्निहोत्र में जुहू, चमस, स्रुवा, अवभृथ आदि पात्र होते हैं तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ के वाणी, मन, आँख आदि आवश्यक अंग भी अग्नि होत्र के पात्रों की भान्ति पात्र हैं। उन्होंने लिखा है "स्वाध्यायो वै ब्रह्म यज्ञः तस्य वा एतस्य ब्रह्म यज्ञस्य वागेव जुहू मन उपभृत्, चक्षु ध्रुवा मेधास्रुवः सत्यमवभृथः।" शत० ब्रा० ११-५-६-३-३। निश्चय ही स्वाध्याय ब्रह्म यज्ञ है। इस ब्रह्म यज्ञ की वाणी जुहू है मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा स्रुव है और सत्य अवभृथ है। जिस प्रकार अग्निहोत्र आदि द्रव्य यज्ञों में जुहू, उपभृत् आदि पात्रों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्वाध्याय रूपी यज्ञ में जुहू आदि की आवश्यकता है।

जुहू क्या है? देव यज्ञ में हवि देने के लिए जुहू की आवश्यकता है। जिससे हवि दी जाती है, उसे ही जुहू कहते हैं। "जुहोत्यनया इति जुहू।" जुहू शब्द "हू दानादानयो" धातु से बना है। जुहू वह पात्र विशेष है। जिससे दान और आदान दोनों ही क्रियायें होती हैं। जहाँ इससे हवि दी जाती है, वहाँ इससे उपभृत् पात्र से हवि ली जाती है। यदि जुहू पात्र में हवि ली न जाएगी, तो

छोड़ी क्या जाएगी ? इसीलिए जुहू वह चमस है जिससे पहले उपभृत पात्र से हवि ग्रहण की जाती है और पश्चात् अग्नि में छोड़ी जाती है ।

स्वाध्याय यज्ञ में वाणी जुहू है जिससे ज्ञान रूपी हवि ली जाती और दूसरी जगह छोड़ी जाती है । वाणी का भी काम यही है । एक जगह से लेना दूसरी जगह छोड़ देना । एक से आदान और दूसरे में दान । वाणी मन रूपी उपभृत् पात्र में से हवि का आदान करके, श्रोताओं के श्रवण पात्र में दान करती है । इस आदान और दान क्रिया से वाणी जुहू कहलाती है । इस प्रकार स्वाध्याय यज्ञ में वाणी जुहू है ।

उपभृत् वह पात्र है जिसमें से चमस डुबोकर हवि भर लेते हैं । अथवा जो हवि का भरण किये रहता है उसे उपभृत् कहते हैं ।

स्वाध्याय यज्ञ में मन उपभृत् है । मन वह उपभृत् पात्र है जिसमें चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदुग्ध भरती रहती हैं । उपेत्य भन्त्यस्मिन्निति उपभृत् । इसके पास पहुँचकर ज्ञान भरती रहती हैं और उपदेष्टा वाणी रूपी जुहू द्वारा मन उपभृत् में से ज्ञान रूपी जल भरता रहता है । उपेत्य भरत्यस्माद् इति उपभृत् । इस प्रकार स्वाध्याय यज्ञ में जहाँ वाणी जुहू है वहाँ मन उपभृत् है ।

चक्षु ध्रुवा है :

स्वाध्याय यज्ञ में वाणी जुहू है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है । वाणी ज्ञान रूपी हवि के दानादान का साधन है । मन हवि को भरण करता है । चक्षु हवि को ध्रुव रखता है । चक्षु ध्रुव है ।

स्वाध्याय यज्ञ में चक्षु ध्रुव है, तो मन और वाणी अपना-अपना कार्य कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। उसकी ध्रुवता पर ही तो स्वाध्याय रूपी यज्ञ ध्रुव है। स्वाध्याय रूपी यज्ञ में अध्ययन, मनन, निदिध्यासन तत्वत्रय में अध्ययन सर्व प्रथम है। अध्ययन के पश्चात् ही मनन और निदिध्यास संभव है। इसी अध्ययन का साधन चक्षु है। जो चक्षु-हीन है वह श्रोता बन सकता है परन्तु अध्येता नहीं बन सकता। अध्येता बनने के लिए चक्षु आवश्यक हैं। चक्षु ध्रुव है। इसकी ध्रुवता पर ही अध्ययन की ध्रुवता है। जैसे-जैसे चक्षु इन्द्रिय शब्दों और वाक्यों को ग्रहण किये जाता है, वैसे-वैसे मन रूपी उपभृत् मनन और निदिध्यासन द्वारा ज्ञान का भरण किये जाता है। तत्पश्चात् वाणी रूपी जुहू उसी ज्ञान को लोगों तक पहुँचाती है। इसलिये स्वाध्याय-यज्ञ में चक्षु ध्रुव है।

मेधा स्रुव है :

अग्नि होत्रादि यज्ञों में स्रुव वह पात्र है जिसमें एक नहीं अनेक आहुति भाग इकट्ठे किये जाते हैं और फिर एक बार आहुति बनाकर छोड़ दिये जाते हैं। अर्थात् चमस से एक-एक मन्त्र द्वारा दिये जानेवाला आहुति भाग पहले स्रुव में छोड़ा जाता है और फिर जब वह पूर्ण हो जाता है तो इस संगृहीत हवि को अग्नि में छोड़ देते हैं।

स्वाध्याय यज्ञ में मेधा स्रुव है। वैसे तो मेधा वह पात्र है जिसमें इन्द्रिय रूपी चमस अपनी हवि डालते हैं। चक्षु रूप-हवि, श्रोत्र शब्द-हवि, नासिकागन्ध-हवि, रसना रस-हवि, त्वचा स्पर्श-हवि। मेधा इस समस्त हवि-समूह की वाणी रूपी जुहू

के हवाले कर देता है कि इसे बाँट दो। बुद्धि को मेधा कहने का प्रयोजन भी यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपनी-अपनी हवि लाकर कहती हैं कि मेरी हवि धारण करो मेधा! मेरी धारणा करो और वही सभी की हवि को बारी-बारी से धारण करती है।

स्वाध्याय यज्ञ में तो केवल चक्षु द्वारा लायी हुई हवि को ही मेधा धारण करती है। जैसे-जैसे आँखें शब्दों को पढ़ती जाती हैं वैसे वैसे मेधा रूपी स्रुव उसे धारण किये जाता है। यदि शब्द का अर्थ नहीं आया तो मेधा-स्रुव थोड़ा रुक कर श्रवणेन्द्रिय द्वारा किसी से सुने हुए अर्थ को ग्रहण करता है अथवा आँखें उस शब्द से व्यवहृत होने वाले अर्थ को देखने के लिए बाधित होती हैं और अन्ततः उस अर्थ को ले जाकर कहती है, "मेधा मेरी हवि को धारण कीजिए।" ऐसा कहने पर मेधा उसे भी संगृहीत कर लेती है। इससे भी आगे शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है इस बात को मन द्वारा मनन होने पर संगृहीत कर लेती है। फिर वह शब्द-रूप, अर्थ-रूप, सम्बन्ध-रूप, विविध हवि को अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध सहित ज्ञान को संगृहीत करती है। मेधा को स्रुव कहने का प्रयोजन भी यही है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्रस्रवित होकर इस तक आता है। सब प्रवाह इसी की ओर स्रवित होते हैं। इसलिए शतपथकार ने स्वाध्याय-यज्ञ में मेधा स्रुव कहा है।

सत्य अवभृथ है :

दीक्षित व्यक्ति को यज्ञ की समाप्ति पर स्नाव कराया जाता है। उसे अवभृथ स्नान कहते हैं। स्वाध्याय-यज्ञ में अवभृथ क्या है ? स्वाध्याय-यज्ञ में जहाँ जुहू, उपभृत्, ध्रुवा और स्रुवा पात्र

हैं वहीं उसकी समाप्ति पर अवभृथ स्नान भी होना चाहिए। बस शतपथकारने सत्य को अवभृत स्नान कहा है। सत्य ही वह जल है जिसमें स्वाध्याय-यज्ञमें दीक्षित व्यक्ति स्नान करता है। इसमें स्नान करके ही निष्णात होता है। निश्चित रूप से स्नान किया हुआ पूर्ण-तृप्त, पूर्ण-काम, स्वाध्याय-यज्ञ का परिणाम ही सत्य है। इसीलिए व्यक्ति उस सत्य में नहाकर निहाल हो जाता है। यही उसका अवभृथ है। इस प्रकार स्वाध्याय परम श्रम है, स्वाध्याय परमतप है। स्वाध्याय परम धर्म है, स्वाध्याय परम स्कन्ध है, स्वाध्याय परम योग है और स्वाध्याय परम यज्ञ है।

स्वाध्याय परम रस है :

"रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"। साधक निश्चय ही रस की प्राप्त करके आनन्दी हो जाता है। उपनिषद्कार ने जिस रस की ओर निर्देश किया है, वह कोई सांसारिक रस नहीं है। वह रसों का रस परम रस स्वयं भगवान् हैं, अथवा उसका आनन्द-रस ही वह रस है, जिसका पान करके "आनन्दी भवति"। उसके आनन्द-रस को प्राप्त करके आनन्दी हो जाता है।

यह तो हुई अलौकिक रस की बात, परन्तु हम लौकिक रस की बात कह रहे हैं। वह भी उसके ही तुल्य है और लौकिक रसों में तो वह परम रस है। परमानन्द रस से यदि किसी की तुलना की जा सकती है, तो यही स्वाध्याय-रस ही है, जिसे पान करके व्यक्ति आत्मविभोर हो जाता है, आनन्दी हो जाता है। यह कैसा आश्चर्य है कि लौकिक रस है और उसे प्राप्त करके आनन्दी हो

जाता है ! वास्तव में उसे लौकिक कहना भूल है। वह अलौकिक ही है, क्योंकि उसका उद्गम लोक से नहीं अलोक से है। जिसके लिए वेद में लिखा है "अकामोधीरो अमृतः .स्वत्वभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनो।" न वह परमात्मा रस से परिपूर्ण है न कहीं से आता है। उस परम में से लिया गया रस लौकिक कैसे हो सकता है ? वह भी अलौकिक ही है। जिसके लिए स्वयं वेद में लिखा है कि उस परम रस को आदि सृष्टि में ऋषियों ने समृत् किया। उस संमृत रस का जो अध्ययन करता है उसे नाना प्रकार की धाराएं मिलती हैं। "यो पावभानी अध्येन्यृषिभिः संमृतं रसं। तस्मै सरस्वानी दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।"

(यः) जो व्यक्ति (ऋषिभिः) अग्निवायु आदि ऋषियों द्वारा (संभृतम्) एकात्मना धारित (रसम्) वेद को (अधि एति) अधिकृत रूप से ग्रहण करता है, अध्ययन करता है, उसे अनेकों लौकिक रस प्राप्त होते हैं।

भिन्न-भिन्न कक्षाओं के रस भी भिन्न-भिन्न हैं। पाक शास्त्र में मधुर, अम्ल, लवणादि षड्रस हैं, तो साहित्य के क्षेत्र में शृंगार आदि नव अथवा वात्सल्य को मिला कर दश रस हैं। जिसे साहित्यिक लोग ब्रह्मानन्द का सहोदर मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में शृंगारादि रस हैं, परन्तु ऐसे रस हैं जिनसे व्यक्ति की तृप्ति नहीं होती। वह अतृप्त रहता है। कोई ऐसा रस होना चाहिए जिसे पीकर तृप्त हो जाए, जिसमें नहा कर निष्णात हो जाए, तो ऐसा रस वेद है, अध्ययन है, स्वाध्याय है। इस रस का पान करने वाले जानते

हैं कि यह वाणी का विषय नहीं अनुभव का विषय है। "स्वयं तदन्तःकरेणन गृह्यते।" इसी को उपनिषद् के ऋषि ने परम रस कहा है।

"एषां भूतानां पृथिवी रसा, पृथिव्या आपो रसः आपोषधयो रसा, औषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्थ वाग् रसो वाचः ऋग्रस ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथोरसः।" इसमें उद्गीथ को अन्तिम रस कहा है। उद्गीथ जिसका रससार है वह ऋग्वेदादि ग्रन्थ भी रस हैं। इस स्वाध्याय रस का पान करके ही व्यक्ति आनन्दी हो जाता है। यही वह रस है जिसे पाकर व्यक्ति जागतिक रसों से हट सकता है। अन्यथा जागतिक रस व्यक्ति को व्यथित करते हैं। श्री कृष्ण गीता में कहते हैं। "विषयाविनिवर्तन्तेनिराहारस्यदेहिनः। रसवर्ज, रसोप्यस्य परंदृष्ट्वा निवर्तते।"

निराहार देही के विषय निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु उनके प्रति लगाव, उनकी चाह, उनका रस बना रहता है। उसकी निवृत्ति परम रस का पान करके ही होती है। यहाँ गीताकार को परम से परमात्मा ही अभीष्ट है। परन्तु यदि परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान को परम मान लिया जाय, तो कोई हानि नहीं। बस वह व्यक्ति उस रसके तैराक हो जाते हैं। उसमें बार-बार गति रखते हैं। "अध्येति" का यही भाव है। उनको लौकिक रस मिलते हैं। इसी स्वाध्याय रस के कारण ही वाणी सरस्वतीक हलाती है। यदि स्वाध्याय रस नहीं, तो वाणी सरस्वती नहीं कहला सकती। सरस्वती संज्ञा स्वाध्याय रस के कारण है। इसलिए स्वाध्याय परम रस है,

स्वाध्याय परम श्रम है, स्वाध्याय परम तप है, स्वाध्याय परम धर्म है स्वाध्याय परम स्कन्ध है, स्वाध्याय परम योग है स्वाध्याय परम यज्ञ है, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। तस्माद् स्वाध्यायो अध्येतव्यः।

पुनरावृत्ति

अक्षम्य अपराध :

जिस स्वाध्याय की इतनी महिमा है उस स्वाध्याय में नाग़ा करना कितना बड़ा अपराध है? वह सामान्य अपराध नहीं, महान् अपराध है और अक्षम्य अपराध है। इसी लिए तो ऋषि लोग जगह-जगह लिखते हैं, "स्वाध्यायो अध्येतव्यः" "स्वाध्यायन्मा प्रमद" "स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।"

स्वाध्याय परम दीक्षा है :

वैदिक धर्म में दीक्षा का बहुत महत्त्व है। किसी भी यज्ञ के आरम्भ में व्यक्ति जहाँ व्रत ग्रहण करता है, वहां यज्ञ के उत्सर्जन समय दीक्षा ग्रहण करता है। वेदारम्भ में जहाँ व्रती ब्रह्मचारी, "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" मन्त्र पढ़कर व्रत ग्रहण करता है, वहाँ समावर्तन संस्कार में जब ब्रह्मचारी दीक्षा ग्रहण करता है, उस समय आचार्य जो उपदेश देता है उसमें सब से अधिक बल स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद न करने के बारे में दिया है। आचार्य कहता है, "स्वाध्यायन्मा प्रमद" "स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।" हे ब्रह्मचारिन्! स्वाध्याय से कभी प्रमाद न कर। तुझे स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना चाहिए।

जहाँ बहिर्वित्त के समर्पण का नाम दक्षिणा है, वहाँ अन्तर्वित्त के समर्पण का नाम दीक्षा है। व्यक्ति का जितना भी अन्तर्वित्त है उसका हृदय, उसका चित्त, उसका मन, उसका अहंकार इस सभी अन्तर्वित्त को स्वाध्याय के लिए समर्पित करना स्वाध्याय - दीक्षा है। नव स्नातक को आचार्य अन्तिम उपदेश देते हुए जहां सत्य, धर्म, कुशल, अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों में, भूत्यै, सुखों के साधन धनादि की प्राप्ति में प्रमाद न करने की बात कहते हैं, वहाँ स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात दो बार कहते हैं। इसीलिए स्वाध्याय परम दीक्षा है। स्वाध्यायो वाव दीक्षा।

स्वाध्याय परम श्रम है, स्वाध्याय परम तप है, स्वाध्याय परम धर्म है, स्वाध्याय परम योग है, स्वाध्याय परम स्कन्ध है, स्वाध्याय परम यज्ञ है, स्वाध्याय परम रस है, स्वाध्याय परम दीक्षा है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्य।

स्वाध्याय का अर्थ

॥।

जिस स्वाध्याय को भगवान् याज्ञवल्क्य परमश्रम, राजर्षि मनु परम तप, महर्षि दयानन्द परम धर्म, मुनिवर पतंजलि परम योग, उपनिषद्कार परम स्कन्ध और परम दीक्षा, शतपथकार परम यज्ञ तथा भगवति श्रुति परम रस कहते हैं, जिसकी महिमा का गान करते हुए शास्त्रकार नहीं अघाते और जो प्रत्येक आश्रमस्थ व्यक्ति के लिए पालनीय और द्विजों के लिए आचरणीय है, उस-स्वाध्याय शब्द का अर्थ क्या है ? स्वाध्याय से हम क्या समझें ? इस शब्द की रचना किस प्रकार हुई है ? धातु क्या है ? उपसर्ग क्या हैं ? इत्यादि का परिज्ञान होना आवश्यक है।

स्वाध्याय शब्द सु+आङ्+अधि पूर्वक इङ्-अध्ययने धातु से घञ् प्रत्यय करके बनता है। इसके विषद अर्थ को समझने के लिए इसमें प्रयुक्त धातु, उपसर्ग और प्रत्यय के अर्थ को समझना होगा। इसमें नित्य अधि उपसर्ग पूर्वक इङ् धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ अध्ययन ही है। इङ् अध्ययने अर्थात् इङ् धातु के अर्थ अध्ययन में भी अधि उपसर्ग लगा हुआ है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि अध्ययन अर्थ केवल इङ् धातु का नहीं, अपितु अधि पूर्वक इङ् धातु का है, अन्यथा इङ् अध्ययने रूप न होकर इङ् अयने रूप होना चाहिए था। धातु और अर्थ दोनों से अधि उपसर्ग को हटालें, तो दोनों का मूल रूप सामने आ जाएगा। धातु का इङ् रूप और अर्थ का अयन रूप। अब अर्थ के मूल रूप अयन को समझ लेने के पश्चात् देखेंगे कि अधि उपसर्ग के बल से उसका अध्ययन अर्थ कैसे हो गया ? अन्यथा नित्यमधि पूर्वक इङ् धातु से बने अध्ययन शब्द का अर्थ अध्ययन होता है, कहना उपहासास्पद सा लगता है। इसलिए मूल का ही अर्थ समझना चाहिए। यहाँ हम नैरुक्त प्रक्रिया का आश्रय लेकर ही अध्ययन शब्द का अर्थ निर्धारित करते हैं। किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन का अभिप्राय यह है कि अध्येता का ग्रन्थ में अबाध गति का होना। यदि वह पाठ करने लगे तो अबाधगति से करे। यदि अर्थ करने लगे तो बेरोक चलता जाए। उसका आशय समझने में भी उसकी बुद्धि कुण्ठित न हो। हमारे इस अर्थ की पुष्टि 'पारंगत' शब्द से होती है। जब कोई व्यक्ति अपनी विद्या का पूर्ण जानकार होता है, तो यही कहा जाता है कि वह उसका पारंगत है अर्थात् उस व्यक्ति को अपने विषय में परले सिरे तक

गति है। जब कोई अध्यापक अपने ग्रन्थ को पढ़ाते समय उसके अध्याय, पृष्ठ और पंक्ति तक का पता बता देते हैं, तो सहसा मुख से निकलता है कि इनकी इस ग्रन्थ में बड़ी गति है। इसीलिए अध्ययन का अर्थ हुआ पाठक की ग्रन्थ में आद्योपान्त अबाध गति। हमारे इस अर्थ की पुष्टि धातु के मूलार्थ अयन शब्द से होती है।

अयन शब्द का अर्थ :

अयन शब्द का अर्थ समझने के लिए हमें अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। सूर्य की दो प्रसिद्ध गतियों को अयन नाम से ही याद करते हैं। दक्षिण अयन और उत्तर अयन, अर्थात् उसकी दक्षिण और उत्तर की ओर चाल अथवा प्रवेश। बस अध्ययन का भी यही अर्थ है कि "अध्येता की वह अबाध गति जिससे वह पारंगत कहलाये" अथवा "वह प्रवेश जिससे वह ग्रन्थ में आद्योपान्त घुस जाए" अयन कहलाएगा। इसलिए अध्याय शब्द भी अधि पूर्वक 'अय गतौ' धातु से निष्पन्न होकर ही अपना स्पष्टार्थ देगा।

हमारे अर्थ की सम्पुष्टि एक और बात से भी होती है। जहाँ अध्याय शब्द में गत्यर्थक अय धातु का प्रयोग है, वहाँ इङ् अध्ययने धातु के अतिरिक्त इण् गतौ धातु है, जिससे 'अय' शब्द बनता है और अध्याय में भी इण् गतौ धातु मानने से यह समस्या हल हो जाती है। तथापि गत्यर्थक धातु का प्रयोग मानने से कोई हानि भी नहीं, अपितु अर्थ का और अधिक स्पष्टीकरण होता है, क्योंकि गति का अर्थ केवल चलना ही नहीं है, अपितु "गतेस्त्रयोः अर्थाः ज्ञानम् गमनम् प्राप्तिश्चेति"। अब अध्याय शब्द को गत्यर्थक

अय गतौ अथवा इण् गतौ धातु से निष्पन्न मानने पर यह अर्थ स्पष्ट हुआ कि स्वाध्याय वह है जो (सु) उत्तमतया (आ) सम्मुख स्थिति (अधि) अधिकृत सब ओर से (अयः) गति, प्रवेश, उसका ज्ञान, प्रयत्न और प्राप्ति।

आगम शब्द वेदादि शास्त्रों के लिए प्रयुक्त होता है। इन्हें आगम इसी लिए कहते हैं कि ये स्वाध्यायशील व्यक्ति के समीप आते हैं। जैसे-जैसे वह शास्त्रों के अध्ययन में लगता है वैसे-वैसे ज्ञान उसके समीप आता जाता है अथवा इन्हें आगम कहने का दूसरा प्रयोजन यह भी है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति का अन्तिम गन्तव्य आगम ही हैं, वेद ही हैं। वह उसके गन्तव्य की सीमा है, ज्ञान की सीमा है अथवा प्राप्ति की सीमा है। इस प्रकार आगम, निगम, अवगम, आदि शब्दों में गमन अर्थ वाली गम धातु का प्रयोग होने और इन प्रयोगों को देखने से यह निश्चय किया गया कि अध्याय शब्द में गत्यर्थक अय धातु अथवा इण् गतौ धातु है।

निगम शब्द का प्रयोग वेद के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। आचार्य यास्क ने तो अपने निरुक्त ग्रन्थ में "इत्यपिनिगमो भवति" की यत्रतत्र झड़ी लगा दी है। इसमें भी गम धातु का ही प्रयोग है। अतः अध्ययन शब्द में गत्यर्थक धातु खोजनी चाहिए। यहाँ आचार्य यास्क के इस "न संस्कारमाद्रियेत" (निरुक्त २-१-१) सिद्धान्त का आश्रय श्रेयस्कर है। इसका भाव यह है कि निर्वचन करते समय व्याकरण द्वारा होने वाले शब्द संस्कार की चिन्ता न करें। यह न सोचें कि यह शब्द व्याकरण से कैसे बनेगा? बनेगा भी या नहीं? इस बात की चिन्ता किये बिना "अर्थं नित्यः परीक्षेत" (निरु. २-१-१) अर्थ

को प्रधान मानकर निर्वचन का मार्ग निकाले। जिस मार्ग से अपेक्षित अर्थ प्राप्त हो सकता हो उसके अनुसार निर्वचन करें। हमें यहाँ यह अर्थ अभीष्ट है कि अध्येता की किसी भी ग्रन्थ में आदि से अन्त तक अबाध गति होना अध्याय है।

अध्याय शब्द का अर्थ :

आद्योपान्त वह प्रवाह जो पठन, मनन और निदिध्यासन को अखण्ड रखे। जहाँ पाठक के दृष्टि-पथ में शब्द-वाक्य आते जायें, वहाँ उनका अर्थ भी उद्‌बुद्ध होता जाए और साथ ही साथ निदिध्यासन भी चलता चले। उसमें कहीं रुकावट न हो। उसका दृष्टि कहीं शब्दार्थ की अनभिज्ञता से रुक न जाए। शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है, इसके निदिध्यासन में लगी बुद्धि कुण्ठित न हो जाए। अर्थात् ग्रन्थाध्ययन में जहाँ आंखें अविराम बढ़ें, वहाँ मन और मस्तिष्क भी अविराम बढ़ें। बस इस गति को ही अयः कहेंगे। पढने वालों का इस गति पर अधिकार हो, कमाण्ड हो, तब ही वह अध्याय (आधि+आ+अयः) कहलाएगा।

अब इसी अध्याय शब्द में अन्य दो उपसर्गों के जोड़ देने से स्वाध्याय शब्द बनेगा। दो उपसर्ग हैं सु और आङ्-अर्थात् सु+आङ्+अधि+इण्+गतौ धातु से णिच् और ल्युट् प्रत्यय होकर स्वाध्याय शब्द निष्पन्न होगा, जिसका अर्थ होगा 'सुष्ठु आवृत्य अध्यायः स्वाध्यायः।" (सु) उत्तम रीति से (आ) आद्योपान्त (अधि) अधिकृत (इण्) पहुँच अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति का उत्तमता से (ग्रन्थ के) आरम्भ से अन्त तक अधिकार पूर्वक प्रवेश का

नाम स्वाध्याय है ।

आचार्य यास्क उपसर्गों का अर्थ लिखते हुए सु उपसर्ग का अर्थ करते हैं "सु इत्यभिपूजितार्थे ।" जिस किसी पद से पूर्व 'सु' उपसर्ग जुड़ जाता है, तो यह 'सु' उपसर्ग जुड़ते ही अर्थ में पूजा बुद्धि पैदा कर देता है। सभी उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं। सुमति का अर्थ है ऐसी बुद्धि जिसमें सभी व्यक्ति पूजाभाव, आदर भाव रखते हैं। बस स्वाध्याय शब्द में भी 'सु' उपसर्गका यही अर्थ है कि ऐसा अध्ययन जो सब से पूजित और सम्मानित हो ।

'सु' उपसर्ग से आगे आङ् उपसर्ग का भी महत्व है । आङ् उपसर्ग के बहुत से अर्थ होते हैं। एक अर्थ समन्तात् भी है जिसका अर्थ है सब ओर से। यदि स्वाध्याय में सु+आङ् में 'आङ्' का अर्थ सब ओर से अर्थ करें, तो स्वाध्याय का अर्थ हुआ कि ग्रन्थ का ऐसा पाठ जिसमें कोई भाग छूटने न पाये। स्वाध्याय करने वाला जहाँ उत्तमतया अध्ययन करे, वहाँ सब ओर दृष्टिपात करे। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति पूरी पुस्तक पढ़ गया परन्तु उसे लेखक के नाम तक का पता नहीं । इसी प्रकार किसी ने तो सारी पुस्तक पढ़ ली परन्तु भूमिका पढ़ी ही नहीं। यह अध्ययन नहीं है। इस लिए जहाँ अध्ययन उत्तमतया हो वहाँ सब ओर से हो, समन्तात् हो। वह उसमें अबाधगति रखता हो ।

आङ् उपसर्ग का एक अर्थ सीमा भी है। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः ।' मर्यादा और अभिविधि अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। मर्यादा और अभिविधि में यही अन्तर है कि जहाँ मर्यादा अर्थ में

प्रयुक्त आङ् अपने साथ प्रयुक्त शब्दार्थ को सम्मिलित नहीं करता, वहाँ अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त आङ् अपने से सम्पृक्त अर्थ को सम्मिलित कर लेता है। प्रमाणतः महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंशियों का वर्णन करते हुए यह लिखना "आसमुद्रक्षितीशानाम्" अर्थात् समुद्र सहित पृथ्वी के स्वामी रघुओं का। यहाँ समुद्र शब्द से पूर्व प्रयुक्त आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ देता है कि समुद्र को सम्मिलित करके अर्थात् समुद्र सहित पृथिवी के स्वामियों का। इसी प्रकार स्वाध्याय में सु+आङ् पूर्वक अध्याय शब्द का अर्थ होगा अध्याय को सम्मिलित करके, वेद को सम्मिलित करके पठन स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से क्या अभिप्राय लिया जाय ? क्या हर किसी ग्रन्थ को पढ़ लेना स्वाध्याय है ? नहीं, सर्वथा नहीं। जब तक अध्ययन में वेद सम्मिलित न हों तब तक स्वाध्याय नहीं। वेद को सम्मिलित करके किया गया अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा। आङ् उपसर्ग के अभिविधि अर्थ का यही महत्व है कि अध्याय को, वेद को सम्मिलित करके पढ़ना स्वाध्याय है।

अध्याय शब्द वेद का वाचक है :

स्वाध्याय शब्द में प्रयुक्त "अध्याय" शब्द वेद का वाचक है। आचार्य यास्क जहाँ कहीं भी लौकिक और वैदिक इस प्रकार दो भेद करते हैं, वहाँ लौकिक के लिए भाषा शब्द का और वेद के लिए "अध्याय" शब्द का प्रयोग करते हैं। निपातों का लोक और वेद में प्रयोग दिखाते हुए लिखते हैं—"तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च।" उनमें से ये निम्नांकित

चार (निपात) उपमार्थ में प्रयुक्त होते हैं । इव यह (निपात भाषा में) अर्थात् लोक में भी और (अध्याये इति अन्वध्यायं) अर्थात् वेद में भी उपमार्थ में प्रयुक्त होता है इत्यादि। यहां अन्वध्यायम् में आये अध्याय शब्द का अर्थ वेद मान लिया जाए, तो वह अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा जिसमें वेद सम्मिलित हो । उत्तमतया सब ओर से वेद सहित अधिकृत अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा । सु+आ+अध्याय. (वेद.) सुष्ठुतया आवृत्यवेदः स्वाध्याय : ।

याज्ञिकों में उपाकर्म का बड़ा महत्व है, जिसे आजकल श्रावणी उपाकर्म कहने लगे हैं । श्रावणी शब्द का प्रयोग तो इसलिए किया जाने लगा कि उपाकर्म विधि श्रावण की पूर्णिमा को अथवा श्रावण मास की पंचमी से किया जाता है। उपाकर्म का अर्थ है उद्घाटन करना या आरम्भ करना। इससे यह तो प्रकट हो गया कि किसी का आरम्भ उपाकर्म है । परन्तु किसका उपाकर्म ? अतः इसे स्पष्ट करने के लिए उपाकर्म को आश्वलायन गृह्य सूत्रकार ने और पारस्कर गृह्य सूत्रकार ने क्रमशः अध्यायोपाकरण या अध्यायोपाकर्म नाम दे दिये। यहाँ अध्याय शब्द का अर्थ सिवाय वेदाध्ययन या वेद के क्या हो सकता है ? क्योंकि इसमें वेद का अध्ययन (विशिष्टरूप से)होता है । आश्वलायन गृह्य सूत्र के ३-५-१ पर नारायण ने उपाकरण के विषय में लिखा है- "अध्ययनमध्यायस्तस्योपाकरणं प्रारम्भो येन कर्मणा तदध्यायोपाकरणम् ।" याज्ञवल्क्य १-१४२ पर मिताक्षरा में लिखा है "अधीयन्ते इत्यध्याया वेदास्तोषामुपाकर्म उपक्रमम् इति ॥" यहाँ तो स्पष्ट ही अध्याय शब्द

का अर्थ वेद किया है । अतः प्रमाणित हुआ कि अध्याय शब्द का अर्थ वेद है, तो स्वाध्याय का निर्वचन दों प्रकार से होगा—
(१) सुष्ठु आवृत्य अध्यायः वेदाध्यायनम् स्वाध्याय ।
(२) सुकृताय आवृत्य अध्यायोऽधीतिः स्वाध्यायः ।

(१) उत्तमतया सब ओर से वेदाध्यायन ही स्वाध्याय है ।
(२) सुकृत अर्थात् पुण्य के लिए सब ओर से वेदाध्ययन स्वाध्याय है ।

यदि स्वाध्याय शब्द का विग्रह "स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः" ऐसा करें तो इसका अर्थ होगा, अपना अध्ययन, अर्थात् अपने आपका अध्ययन, आत्म निरीक्षण, आत्म चिन्तन । यह अर्थ प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित नहीं है और न यहाँ स्थान ही है। इसके लिए पृथक् ही आत्म चिन्तन नामक लघु पुस्तिका लिखने का विचार रखते हैं। यहाँ तो "स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः" में अध्यायः शब्द का अर्थ वेद करने पर यह आशय निकालना अभीष्ट है कि वेद को अपना बना लेना स्वाध्याय है अथवा ऋग्वेदी, यजुर्वेदी आदि उपाधिधारी व्यक्ति परम्परया ऋगादि वेदों को अपना बना लें । तब वह स्वाध्याय कहलाएगा । "अधीयत इति अध्यायः वेदः स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः स्व परम्परागत शाखेत्यर्थः ।"

यहाँ तक निम्न बातें स्पष्ट हो गइ :

(१) स्वाध्याय परम श्रम है ।
(२) स्वाध्याय परम तप है ।
(३) स्वाध्याय परम धर्म है ।

(४) स्वाध्याय परम स्कन्ध है
(५) स्वाध्याय परम योग है।
(६) स्वाध्याय परम यज्ञ है।
(७) स्वाध्याय परम रस है।
(८) स्वाध्याय परम दीक्षा है।
(९) अध्याय शब्द का अर्थ व्यक्ति की पाठ्य-ग्रन्थ में अबाध गति होना।
(१०) अध्याय शब्द का अर्थ वेद है।
(११) स्वाध्याय शब्द का अर्थ, उत्तमतया सब ओर से वेद में अबाध गति।

अक्षम्य अपराध :

हम ऊपर मनु, याज्ञवल्क्य, आदि के प्रमाण से लिख आये हैं कि स्वाध्याय में अनध्याय नहीं। इसमें छूट नहीं, इसमें नाग़ा नहीं। आचार्य अपने दीक्षान्त भाषण में सावधान करते हुए कहता है कि स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना चाहिए। प्रिय स्नातक ! जब तुम गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होओगे सम्भवतः प्रमाद-वश तुम से कुछ भूलें हों परन्तु ध्यान रखना कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना। इसमें प्रमाद करने का बड़ा भयंकर परिणाम होगा। शतपथकार लिखते हैं कि इसमें नागा करने से उतने ही भयंकर परिणाम होंगे जितने कि इस सृष्टि में अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्रादि के अपना-अपना कार्य छोड़ देने से होंगे। क्या कभी इन्हें अपने व्रत में नाग़ा करते देखा वा सुना है ? ये निरन्तर व्रतनिष्ठ रहते हैं। शतपथकार लिखते हैं "यन्ति वा आपः। एत्यादित्यः। एतिचन्द्रमा। यन्ति नक्षत्राणि। यथा हवाऽएता देवता नेयुर्नकुर्युरेवं तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्याय

नाधीते । तस्मात्स्वाध्यायो अध्येतव्यः ।" शतपथ ब्राह्मण ११–७–१० । देखो ये नदिएँ निरन्तर बहती हैं, रुकती नहीं। सूर्य समय पर उदय होता है। चन्द्रमा अपनी नियमितगति से चलता हैं। समस्त नक्षत्र--मण्डल नियमित चल रहा है। एकनिष्ठ अपने व्रत पर आरूढ़ है। जैसे ये सभी देवता रुक जाएँ, नियम भंग कर दें, वैसा ही ब्राह्मण का वह दिन होगा जिस दिन वे स्वाध्याय नियम का भंग कर देगा। शतपथकार तथा याज्ञवल्क्य तो स्वाध्याय में नाग़ा करने से उतनी ही बड़ी हानि मानते हैं जितनी कि नदियों के रुकने से हानि होनें की संभावना है, जितनी कि सूर्य के अनुदित होने से हानि होने की संभावना है, जितनी कि चन्द्रमा और नक्षत्र मण्डल के अपनी चाल छोड़ देने से हानि होंने की संभावना है। यदि ये सभी देवता जिस दिन अपना व्रत भंग कर ठहर जाएँगे, उस दिन प्रलय हो जाएगा। इसी प्रकार व्यक्ति के स्वाध्याय व्रत के भंग करने का दुष्परिणाम होगा कि परिवार, समाज और राष्ट्र के सभी शील-वृत्त और चरित्र का प्रलय हो जाएगा। यह अक्षम्य अपराध है। इसलिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। अपने व्रत को अक्षुण्ण रखने के लिए चाहे एक वाक्य मात्र क्यों न हो उसे ही दोहराले परन्तु नाग़ा न करे। शतपथकार लिखते हैं—"तस्माद् अपि ऋचं वा गाथां वा कुंव्यां वा अभिव्याहरेत् व्रतस्य अव्यवच्छेदाय –" श० ब्रा० ११–५–७–१०। इसलिए ऋग्वेद की एक ऋचा ही सही., साम का गान ही सही, कोई गाथा ही सही अथवा व्रत की अखण्डता के लिए कोई श्लोक ही दोहराले। परन्तु स्वाध्याय में नाग़ा न होने दे। स्वाध्याय सत्र की अखण्डता बनी रहनी चाहिए।

आश्वलायन गृह्य सूत्र (३-३-१) ने स्वाध्याय के लिए निम्न ग्रन्थों के नाम लिखे हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास एवं पुराण। किन्तु मनोयोग पूर्वक जितना स्वाध्याय किया जा सके उतना ही करे। परन्तु स्वाध्याय सत्र को अटूट रखे, व्यवधान न आने पाये।

शांखायन गृह्य सूत्र में (१-४) ने ब्रह्मयज्ञ के लिए ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों एवं मंत्रों के पाठ की बात कही है और भी अन्य गृह्य सूत्रों ने अपने वेद एवं शाखा के अनुसार ब्रह्मयज्ञ के लिए विभिन्न मंत्रों के पाठ या स्वाध्याय की बात कही है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१-१०-१) ने लिखा है कि समय एवं योग्यता के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में अथर्ववेद सहित वेदों के साथ इतिहास एवं दार्शनिक ग्रन्थ भी पढ़े जा सकते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेद के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का अध्ययन भी स्वाध्याय है। समय के अनुसार स्वाध्याय के नियमों में शिथिलता लायी गयी और एक मात्र वेदाध्ययन को ही स्वाध्याय न कह कर अन्य ग्रन्थों को भी समाविष्ट कर लिया गया है। यहां तक कि छः वेदाङ्गों, आश्वलायनादि श्रौत सूत्रों, निरुक्त, छन्द, निघण्टु, ज्योतिष, शिक्षा, पाणिनिव्याकरण के प्रथम सूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति (१-१) के प्रथम श्लोकार्धं महाभारत (१-१-१) के प्रथम श्लोकार्धं, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा के प्रथम सूत्र आदि को भी समाविष्ट कर लिया गया है। इस ढील देने का यही प्रयोजन दीखता है

कि किसी प्रकार भी स्वाध्याय सत्र की अखण्डता बनी रहे। इस में व्यवधान न हो। इसलिए बार-बार कहा है 'तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्य." शत० ११-३-७-३

शतपथकार ने यही बात, स्वाध्याय यज्ञ को देवयज्ञ का रूप देकर समझाई है। जहां उसके वाणी, मन, चक्षु हृदयादि अंगों को जुहू, उपभृत, ध्रुवा, स्रुव आदि पात्रों की संज्ञाएँ दी हैं, वहां ऋग्, यजु. साम, अथर्वादि ग्रन्थों को दूध, घृत, सोम, स्नेह, मधु की आहुतियां स्वीकार की हैं। जिस प्रकार देव यज्ञ में देवों को तृप्त करने के लिए दूध, घृत. सोमादि पदार्थों की आहुतियां देना आवश्यक है। उसी प्रकार स्वाध्याय यज्ञ में दूध घृत सोमादि पदार्थ क्या हैं, जिन की आहुतियाँ देने से देव तृप्त हो सकते हैं ? तो लिखा है—

पय आहुतयो वा एता — यद् ऋचः।
आज्य आहुतयो वा एता — यद् यजूंषि
सोम आहुतयो वा एता — यत् सामानि
मदे (स्नेह) आहुतयो वा एता — यद् अथर्वाङ्गीरस
मधु आहुतयो वा एता — यद् अनुशासनानि, विद्या,
वाकोवाक्यम्, इतिहास-पुराणम्-गाथा-नाराशंसी। शतपथ ११-३-४-५

उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार द्रव्य यज्ञ में पय, आज्य, सोम, मेद (स्नेह), और मधु की आहुतियां दी जाती हैं, उसी प्रकार स्वाध्याय यज्ञ में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास पुराण, गाथा, नाराशंसी ही वे आहुतियां हैं, जिन के देनें से देव तृप्त होते हैं।

इस से जहां यह पता चला कि देव यज्ञ की भांति स्वाध्याय भी यज्ञ है, वहां यह ज्ञात हो गया कि किन-किन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए। ऋगादि चारों वेदों का और अनुशासन (वेदांग), विद्या (सर्प एवं देव यज्ञ विद्या-छान्दोग्य. ७-१-१) वाकोवाक्य (ब्रह्मोद्यनामक धार्मिक वाद विवाद), इतिहास--पुराण, गाथाएं, नाराशंसी (व्यक्तिगत आत्मकथाएँ जिसमें नरों का शंसन हो, प्रशंसा हो) इनके पढ़ने से देव लोग प्रसन्न होकर वरदान देते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग का भी यही आशय है कि जिस प्रकार अग्नि-होत्र नैत्यिक कर्त्तव्य है, तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ भी नैत्यिक कर्त्तव्य है। जिस प्रकार देव यज्ञ में प्रति दिन आहुति-दान आवश्यक है, तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ में भी ऋगादि का अध्ययन रूप पय आज्यादि आहुति-दान आवश्यक है। इस में नाग़ा न होना चाहिए।

इन सबका एक मात्र उद्देश्य है कि स्वाध्याय यज्ञ अखण्ड चलता रहे। इसको न चलाना अथवा खण्डित कर देना अक्षम्य अपराध है।

॥।

* *युक्त मनाभवति :*

व्यक्तियों की सब से बडी एक ही कठिनाई है कि मन एकाग्र नहीं हो पाता। जिसे सुनो यही कहते पाओगे कि मन बड़ा चञ्चल है। एक क्षण को भी नहीं टिकता। यदि यह किसी प्रकार काबू आजाए, तो समस्त कार्य सिद्ध हो जाएँ। अर्जुन ने भी अपनी कठिनाई को इन शब्दों में व्यक्त किया है।

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथी बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। गीता ६-३४

हे श्रीकृष्ण ! मन अत्यन्त चञ्चल है। इन्द्रियों को मथ देने वाला अत्यन्त बलवान् और दृढ़ है। उसका निग्रह वैसा ही

---

* अथातः स्वाध्याय प्रशंसा प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो, युक्तमना भवति, अपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते, सुखं स्वपिति, परमचिकित्सक आत्मनो भवति, इन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञा वृद्धिर्यशो लोकपक्तिः, प्रज्ञावर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति। ब्राह्मण्यं, प्रतिरूपचर्या, यशो लोकपक्तिं, लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्ति, अर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च। शत० ब्रा० ११-४-१।

दुष्कर है, जिस प्रकार वायु का निग्रह अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए सब सफलताओं की सफलता, सब योगों का योग मनोनिग्रह है। शतपथकार स्वाध्याय के लाभों में सर्व प्रथम लाभ मनोनिग्रह ही बताते हैं। उन्होंनें लिखा है कि स्वाध्याय से सर्व प्रथम व्यक्ति "युक्तमना भवति" समाहित मन वाला हो जाता है, स्थिर चित्त हो जाता है। जिसे गीताकार ने स्थित-प्रज्ञ कहा है, उसे शतपथकार ने युक्तमना कहा है। वास्तव में देखा जाए, तो स्थित शब्द की अपेक्षा, युक्त शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण जंचता है। क्यों कि स्थित शब्द में तो किसी वस्तु के ठहर जाने का भाव अन्तर्निहित है। किसी चीज़ का ठहर जाना, रुक जाना, उत्तम नहीं; जितना कि उसका किसी उद्दिष्ट लक्ष्य की ओर जुड जाना। इसी लिए मन को रोकने, की अपेक्षा, यह अधिक उपयुक्त है कि उसे अच्छी दिशा में जोड़ दिया जाय। स्थित मन का अर्थ तो हुआ ठहरा हुआ मन। जिसे दमन द्वारा रोक लिया है, वह बुराई में नहीं जाता। परन्तु जब तक उसे अच्छे काम में युक्त न कर दोगे, जोड़ न दोगे तब तक यही भय रहेगा कि कहीं यह पुनः बुराई में न जा लगे। इस लिए कहा "युक्तमना भवति" अर्थात् युक्त मन वाला हो जाता है। जो युक्त मना नहीं उसका योग कभी सिद्ध नहीं हो सकता वास्तव में प्रत्येक बात में युक्त होना ही योग है और ऐसा व्यक्ति ही योगी है। श्री कृष्ण जी ने तो कहा ही है, "युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा" । गीता ६-१७

युक्त आहार विहार वाले का, कर्म में युक्त चेष्टा शील

का, सोने जागने में युक्त व्यक्ति का योग ही समस्त दुःखों का हरने वाला होता है। जो व्यक्ति युक्तमना नहीं, वह आहार-विहार में युक्त नहीं होसकता। क्या कभी संभव है कि वह कर्म में युक्त-चेष्टा वाला हो ? न सोना जागना ही युक्त हो सकता है। इसी लिए शतपथकार सब लाभों का लाभ, सब सिद्धियों की सिद्धि, सब सुखों का सुख युक्त मन को ही मानते हैं। इसीलिए स्वाध्याय से प्राप्त फल की घोषणा करते हुए कहते हैं "युक्तमना भवति"।

जिसका मन अयुक्त है उसका तो कुछ भी नहीं। श्री कृष्णजी कहते हैं–"नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतःशान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्"। गीता २-६६। अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि ही ठिकाने नहीं रहती और न अयुक्त की कोई भावना ही होती है, न संकल्प ही होता है। जब कोई भावना नहीं तो शान्ति कहाँ ? यदि शान्ति नहीं तो सुख भी कहाँ ? उसका तो सभी कुछ जाता रहता है। इस लिए स्वाध्याय का कोई अन्य फल आपको मिले वा न मिले, सर्वोत्तम फल "युक्तमना भवति" तो मिलता ही है।

अपराधीनो भवति :

स्वाध्याय का दूसरा फल यह होता है कि मनुष्य पराधीन नहीं रहता, स्वाधीन हो जाता है। वह किसी भी प्रकार की गुलामी सहन नहीं कर सकता उसे दासता असह्य हो जाती है। वह दासता के जुए को शीघ्रातिशीघ्र अपने कन्धे से उतार कर फेंक देता है। स्वाध्याय से उसे इतना तो विवेक हो जाता है।

अधीन शब्द का अर्थ है स्वामी के अधिगत होना "इनं प्रभुं अधिगतः अधीन" और ऐसे व्यक्ति की स्वामित्व को स्वीकार कर लेना जो सर्वथा पर है, पराया है पराधीनता कहलाती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति, क्या आध्यात्मिक, क्या राष्ट्रीय और क्या सामाजिक, किसी प्रकार अधीनता स्वीकार नहीं करता ? परवश होना तो वह जानता ही नहीं। क्यों कि वह इसे दुःख मानता है। अनात्मसत्ता के अधीन नहीं हो सकता। वह जानता है कि मैं चेतन हूँ अतः जड़ तत्त्व के अधीन नहीं हो सकता। वह इन्द्रियों विषयों, रूप, रस गन्धादि के हाथों का खिलौना नहीं रहता। वह उन्हें अपनी इच्छा पर चलाता और नचाता है। प्रकृति उसके हाथ का खिलौना होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आदि जड़ शक्तिएँ उसका लोहा मानती हैं। स्वाध्याय से जब यह बोध हो जाता है कि मैं अमर हूँ, फिर तो मृत्यु भी हाथ बांधे आज्ञा पालनार्थ खड़ी रहती है।

इसी प्रकार जब वह राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उतरता है, तो विदेशी शासन को पसन्द नहीं करता और उस जुए को उतार फेंकता है। वह किसी भी प्रकार की पराधीनता बरदाश्त नहीं करता। वह जान लेता है कि "सर्वं परवशं दुःखम्", "सर्वमात्मवशं सुखम्" परवश होना दुःख है और आत्मवश होना सुख है। अतः स्वाध्याय शील व्यक्ति अपराधीनो भवति।

अहरहरर्थान् साधयते :

स्वाध्याय के लाभ बताते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य तीसरा लाभ "अर्थ लाभ" बताते हैं। सांसारिक साधारण व्यक्ति हर बात

में सौदे बाजी करता है। वह लाभ चाहता है। लाभों में भी पैसे के लाभ को ही सच्चा लाभ मानता है। वह कहता है कि जिसमें चार पैसों का लाभ न हुआ वह भी कोई सौदा है ? ऐसे व्यक्ति के लिए भी इसमें गुंजायश है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति को अर्थ लाभ भी होता है। "अहरहरर्थान् साधयते" दिनों दिन वह अर्थों की सिद्धि करता है।

यहाँ अर्थ से अभिप्राय केवल स्थूल अर्थ ही न लेना चाहिए। वह भी एक अर्थ हो सकता है, परन्तु शतपथकार को जो यहाँ अभीष्ट है, वह तो स्पष्ट ही स्वाध्याय में आये हुए किसी भी शब्द के पीछे जो गहन अर्थ है उसकी सिद्धि कर लेना है। उसका विवेक-सामर्थ्य इतना बढ़ जाता है, कि वह शब्द की गहराई में जाकर उस अर्थ को निकाल लाता है, जिसकी सामान्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता। उसको वेद में आया हुआ "अश्व" शब्द केवल घोड़े का वाचक नहीं दीखता, अपितु राष्ट्र, काल, क्षेत्र, इत्यादि का वाचक दीखने लगता है। उसके लिए "गौ" शब्द साधारण पशु का वाचक न दीखकर वाणी, किरण, पृथ्वी, गतिशील पदार्थों का ज्ञापक दीखता है। निरुक्तकार भगवान् यास्क ने इसीलिए अर्थ का महत्त्व दर्शाते हुए कहा है कि जो व्यक्ति वेद को केवल घोकता मात्र है, उसके अर्थ को नहीं जानता वह मूढ़ है, वह "यथा खरश्च चन्दनभारवाही" जैसे गधा चन्दन का बोझ उठाए फिरता है, वंसेही वह व्यक्ति है जो अर्थ तो जानता नहीं और वेद के ग्रन्थ उठाए-उठाए फिरता है। दर्शन मात्र कर लेता है। इसके विपरीत जो अर्थज्ञ है वह समस्त कल्याणों का

उपभोग करता है। वह ज्ञान से समस्त मलों को धोकर आनन्द धाम को प्राप्त करता है। यास्क का वह स्वर्णिम वचन लिखने योग्य है। "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानात्यर्थम्।" "योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।" निरुक्त १–६

अत. यहाँ स्वाध्याय के तृतीय फल, स्थूल अर्थलाभ ही न लेकर किसी शब्द के अर्थ को जान लेना अर्थ सिद्धि है। यथा व्यक्ति "जल" इस संज्ञा को जानता है, परन्तु वह इसके अर्थ पेय, तरल और शीतलत्वगुण वाले पदार्थ को नहीं जानता तो वह भारहार है। सज्ञा शब्द का भार उठाए फिरता है। वह अपनी प्यास नहीं बुझा सकता, क्योंकि जल शब्द को सहस्र बार कहने से अथवा लिख लेने से प्यास नहीं बुझती जब तक कि अर्थ नहीं जानता। इसी लिए तो यास्क कहते हैं "योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते" निश्चय जानों कि जो अर्थज्ञ है वही समस्त कल्याणों का उपभोग करता है।

"अहरहरर्थान्साधयते" में जहां उक्त भाव हैं वहां अर्थ से एक अन्य अभिप्राय भी है और वह है शब्दादि विषय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पाँचों ही विषय अर्थ कहे जाते हैं। "प्रार्थ्यते इति अर्थः" जिसकी चाहना करता है, याचना करता है वह अर्थ है। व्यक्ति, शब्दादि विषयों की चाह करता है इसलिए यह भी अर्थ है। तो स्वाध्यायशील व्यक्ति दिनों-दिन शब्द आदि विषयों को साथ लेता है। संसिद्ध कर लेता है। वह शब्द को संसिद्ध कर लेता है, जिसने 'रेडियो' का आविष्कार किया है उसने शब्द विषय को साथ लिया। शब्द उसके अधिकार में हो गया। चाहे

जब जितना और जैसा उपयोग करना चाहता है, कर लेता है। वह शब्द विषय को अपने हाथ की कठपुतली बना लेता है। स्वयं उसकी कठपुतली नहीं बनता। जिसने 'टेलीवीज़न' ईजाद किया, मानो उसने रूप विषय को संसिद्ध कर लिया। अब रूप उसकी मुट्ठी में है, न कि वह रूप की मुट्ठी में, रूप उसके इशारे पर नाचता है न कि वह रूप के इशारे पर नाचता है। यह तो हुआ जगत् के भौतिक तत्त्वों द्वारा विषयों की संसिद्धि। यदि स्वाध्याय-शील व्यक्ति चाहे तो अपनी देह के इन श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ही सीधे शब्द रूपादि विषयों को साथ लेता है और यदि इन शब्दादि विषयों की उपलब्धि के लिए उसे स्थूल अर्थ, धन की आवश्यकता होती है तो स्वाध्यायशील व्यक्ति को इसकी भी उपलब्धि हो जाती है, परन्तु यह नगण्य अर्थ सिद्धि है। इसलिए मनुने कहा है, "सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः" मनु० उन समस्त अर्थों को त्याग दे जो स्वाध्याय के विरोधी हैं। यह विचार ले कि मैं ऐसा कोई अर्थ लाभ न करूँ जो स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त ही न होने दे। उसके लिए समय ही न निकल पाए। यदि ऐसा हो तो ऐसे अर्थ, ऐसी वृत्ति और आजीविका को भी छोड़ दे।

सुखं स्वपिति :

स्वाध्यायशील व्यक्ति को लाभ ही लाभ हैं। एक लाभ तो ऐसा बताया कि उसे सुनकर हर व्यक्ति को स्वाध्याय की इच्छा होगी। वह है, चौथा लाभ "सुखं स्वपिति" स्वाध्यायशील व्यक्ति

चैन की नींद सोता है। संसार के अनेकों सुख हैं। परन्तु नींद से बढ़कर अन्य सांसारिक सुख नहीं। इसके लिए सम्पत्तिशील व्यक्ति पैसा बहाते देखे गये। यह कहते सुने गये हैं कि कोई दो घड़ी चैन की नींद दे दे। हमने सोने की औषधि दे दी। लोग इस सोने के लिए सोने की अशर्फ़िएँ लुटाते देखें गये, परन्तु हा! हतभाग्य को नींद कहाँ? सारी रात करवटें बदलते गुज़रते हैं। उनके भाग्य में नींद कहां? सोना है पर सोना नहीं। आचार्य चरक शरीर के आधार स्तम्भों का वर्णन करते हुए कहते हैं, "अथ खलु त्रयउपस्तम्भा। आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यम्" इस शरीर के तीन आधार स्तम्भ हैं, भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य, दूसरा स्थान निद्रा का है। स्वास्थ्य का आधार भी यही तीनों हैं। शायद स्वस्थ और स्वप्न शब्दों का अर्थ एक ही हो। स्व में स्थित होना स्वस्थ है, तो अपने को पा लेना स्वप्न है। "स्वमाप्नोति इतिस्वप्नः" जो स्वस्थ है उसे स्वप्न अर्थात् नींद बढ़िया आएगी और जिसे स्वप्न-नींद अच्छी आएगी वह स्वस्थ होगा। स्वप्न का यहां अर्थ सपना नहीं है। स्वप्न का यहाँ अर्थ अटूट नींद है जिसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक दशा में होता है। जब इन्द्रियें और शरीर के अवयव थक जाते हैं, तो वह अपने-अपने स्थान में बैठ जाते हैं। उनकी बाह्यवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। बस तब नींद आ जाती है। इसी को स्वप्न कहते हैं। मानो सभी ने अपने को पालिया। हर इन्द्रिय ने अपना घर पा लिया और आराम करने चली गईं। इसी का नाम निद्रा हो गया। स्वाध्यायशील व्यक्ति "सुखं स्वपिति" सुख पूर्वक सोता है। और स्वप्नशील व्यक्ति स्वस्थ होता है। उन्निद्र रोग सब से भयं-

कर रोग है । जिसको नींद नहीं उसकी कितनी दयनीय दशा होती है, कभी उन्निद्र रोगी से पूछकर देखिए ।

महाराज धृतराष्ट्र ने अपने इसी की दुहाई देकर विदुर से पूछा था कि मुझे नींद नहीं आती । सञ्जय ने मुझे अभी तक महाराज युधिष्ठिर का कोई सन्देश नहीं सुनाया, जिससे मेरे शरीर का प्रत्येक अंग जल रहा है और मुझे उन्निद्र रोग हो गया है । मुझ सन्तप्त और जागरण से पीड़ित व्यक्ति के लिए कोई कल्याण कर उपदेश दें । तू इसमें पूर्ण कुशल है । इस पर महामति विदुर ने सान्त्वना भरे शब्दों में कहा, "राजन् ! कहीं इन दोषों से आप पीड़ित तो नहीं हो । यदि इनमें से एक भी दोष आप में आया हुआ है तो निश्चय जानो आप इस रोग से पीड़ित रहोगे । क्या कहीं अपने से बलवान् के साथ मुकाबिला तो नहीं हो गया है ? अथवा आपकी संपत्ति छिन तो नहीं गई ? वा काम ने तो नहीं धर दबाया है ? वा चोरी की इच्छा तो नहीं है? अथवा पराये धन पर तो तुम्हारी गृध्र दृष्टि नहीं है ? क्योंकि जिनमें उक्त बातें हैं, उन्हीं को उन्निद्र रोग सताता है ।" विदुर ने अब तक यह स्वर्णिम उक्ति कही—"अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।" "हृतस्वं कामिनं चौरमाविशन्ति प्रजागरम् ।" "कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोसि नराधिप ।" "कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ।" उद्योग पर्व ३३-११-१४

विदुर द्वारा कहे इन महादोषों का प्रक्षालन स्वाध्यायशील व्यक्ति बहुत आसानी से कर लेता है । फलतः उन्निद्र रोग का कारण हट जाने से वास्तविक सुख की नींद सोता है ।

"परमचिकित्सक, आत्मनो भवति" :

स्वाध्याय का पंचम लाभ बताते हुए याज्ञवल्क्य कहते कि वह परमचिकित्सक बन जाता है। उसे चिकित्सा सिद्ध जाती है। वह अन्यों की चिकित्सा ही नहीं करता अपितु अप आपकी चिकित्सा करना जान जाता है। "आत्मनः परमचिकित्स भवति"। अपने आपका परमचिकित्सक हो जाता है। उसे अप रोगों को झटक कर परे हटा देने का अभ्यास हो जाता है। रोग पनयन का माहिर बन जाता है। वह अपने रोग, उसका निदा और उसकी औषध सभी को जान जाता है। वास्तव में कोई शारीरिक रोग तभी होता है, जबकि मानसिक रोग हो। इ लिए कहा "आत्मनः" आत्मा का चिकित्सक हो जाता है, वह रो के मूल को जानता है। उसे वहीं से उखाड़ फेंकता है। खाँ जुकाम, ज्वर आदि रोगों का अपनयन तो करता ही है, पर इनके मूल मानसिक रोगादि विकारों की चिकित्सा करता है उसे किसी डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं। वह अप रोग को पहचानता है, उसके कारण को जानता है और उसक औषध भी जानता है। मोहग्रस्त अर्जुन की भाँति अन्य के पा चिकित्सा कराने नहीं जाता। वह अपने आपका स्वयं चिकित्स होता है। दूसरे को उसके बारे में इतना पता नहीं, जितना उ अपने आपका पता है। दूसरा कितना ही पूछे कि अमुक रो कैसे हो गया तो उसे सभी रहस्य नहीं बताता। परन्तु अप गुह्य रहस्यों को अपने से कैसे छुपा सकता है। इस लिए व अपने आपका परमचिकित्सक होता है। स्वाध्याय का अर्थ जह

वेदों का अध्ययन है, वहाँ अपने आपका अध्ययन भी स्वाध्याय है।*

"परमचिकित्सक आत्मनो भवति" में यही भाव अन्तर्विहित है। "स्वस्य अध्याय: स्वाध्याय:" अपने आपका अध्ययन भी स्वाध्याय है। तभी वह अपनी चिकित्सा कर पायेगा। प्राय: देखा गया है कि डाक्टर अपना-इलाज स्वयं नहीं कर पाते। वे ऐसे घिर जाते हैं कि उन्हें अपनी चिकित्सा समझ नहीं आ पाती, परन्तु स्वाध्यायशील व्यक्ति को यह कमाल हासिल होता है कि वह अन्य की चिकित्सा कर पाये वा नहीं, अपनी चिकित्सा कर लेता है। परमचिकित्सक आत्मनो भवति।

इन्द्रिय संयमः भवति :

उपरोक्त पांच लाभों के अतिरिक्त स्वाध्याय के अनेकों लाभ हैं। उनमें छठा लाभ इन्द्रियसंयम है। आज संसार के सामने यही समस्या है कि व्यक्ति इन्द्रियनिग्रह कैसे करे। इन्द्रियनिग्रह के कृत्रिम उपाय अपनाए जा रहे हैं। स्वाभाविक निग्रह में संसार को विश्वास ही नहीं रहा। परन्तु शतपथकार याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्याय से स्वाभाविक इन्द्रियसंयम होता है। इन्द्रियों पर वशीकरण जब और जितना-उपयोग चाहो कर सकते हो। इन्द्रिएं स्वभावत अपने विषयों में जातीं हैं और इसी उपयोग के लिए हैं परन्तु जैसे ही मर्यादा का उल्लंघन

---

*इसके लिए आत्मचिन्तन नामक पुस्तक शीघ्र ही पाठकों के हाथमें आएगी।

किया कि विषय ग्रस्त हुईं और बजाय वरदान के अभिशाप सिद्ध हो गयीं। इसलिए सधे हुए घोड़ों की भांति इनका संयम आवश्यक है। ज़रासा इशारा पाते ही रथवान् के इशारे पर चलें न कि लगाम तुड़वा कर रथ और रथी को खड्डे में डालें और स्वयं भी विनाश को प्राप्त हों। इसलिए इन्द्रियसंयम आवश्यक है क्योंकि यत्नवान् और मेधावी व्यक्ति की भी इन्द्रिएँ विषयाभिमुख होती हैं और पुरुष को क्षुभित करके व्याकुल बना देती हैं और विवेक विज्ञान युक्त मन को भी हर लेती हैं। इसलिए उन सभी इन्द्रियों को सम्यक्तया वश में करके समाहित चित्त हो जाए क्योंकि जिसकी इन्द्रिएँ वश में हैं वही स्थित-प्रज्ञ होता है। स्वाध्याय के फलों का वर्णन करते हुए जहाँ प्रथम फल "युक्तमना भवति" कहा है वहाँ आठवां लाभ "प्रज्ञावृद्धि भवति" कहा है। यही बात श्री कृष्णजी ने गीता में कही है, "वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" जिसकी इन्द्रिएँ वश में हैं उसी की प्रज्ञा, अविचल, बुद्धि स्थिर होती है। यदि कहीं एक भी इन्द्रिय क्षरित होने लगती है। तो व्यक्ति की प्रज्ञा क्षीण हो जाती है, ठीक इसी प्रकार कि जैसे मशक में से पानी रिसने पर वह सर्वथा खाली हो जाती है। तद्वत् मनुष्य की प्रज्ञा भी नष्ट हो जाती है। इसलिए कहा स्वाध्याय से इन्द्रिय संयम हो जाता है।

संयम शब्द का अर्थ :

संयम शब्द का अर्थ वशीकरण, वशित्व, स्वामित्व है, इसलिए इन्द्रिय संयम का अर्थ हुआ इन्द्रियों का वशीकरण, इन्द्रियों का प्रभुत्व प्राप्त करना "हीनाति मिथ्यायोगानां प्रभुत्वं संयमः।" हीन

योग, अतियोग, मिथ्यायोग पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही संयम है। किसी भी इन्द्रिय का हीन योग असंयम, और उस पर प्रभुत्व संयम किसी भी इन्द्रिय का अतियोग असंयम और उसपर प्रभुत्व संयम और किसी इन्द्रिय का मिथ्यायोग असंयम और उस पर प्रभुत्व संयम कहाता है। इस बात को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। आहार के सम्बन्ध में अभक्ष्य मांसादि पदार्थों का सेवन हीन योग है। भूख से अधिक खा लेना अतियोग है। बाह्य इन्द्रियों को रोक कर मन के वशीभूत होकर असेवनीय भोजन की कामना करना मिथ्या योग है। इसी कसौटी पर सभी इन्द्रियों को परखा जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को वैद्य ने मीठा खाने का निषेध किया है और रोगी मीठा न खाकर उसकी जगह खजूर, केला, चीकू जैसी चीजों का सेवन करता है, तो यह हीन योग होगा और कुछ सेवन की छूट होने पर मर्यादा से अधिक खाना अतियोग और सर्वथा जिह्वा पर रोक लगा कर मन ही मन उसकी कामना करते रहना और मीठे के हर पहलू पर सोचना और उसका रस बना रहना, अर्थात् इस प्रकार सोचना कि जिह्वा से रस (राल) टपकने लगे तो मिथ्या योग है। इसी प्रकार आँखों से सर्वत्र, प्राणीमात्र को आत्मवत् देखना योग। स्वात्मवत् न बरत कर अनात्मवत् बरतना हीन योग। और इसी आत्मवत् दर्शन को सर्पादि हानिकर शत्रुओं में भी बरतना अतियोग। ऊपर से दिखाने के लिए आत्मवादी (अपने को) दिखाना और मन से अनात्मवादी होना मिथ्या योग है। कानों से अश्लील सुनना हीन योग, रात दिन सुनना अतियोग, कान

बन्द करके भी उन अश्लील गानों पर विचार करना मिथ्या योग है। इसी प्रकार त्वचा से निषिद्ध स्पर्श हीनयोग और विहित स्पर्श को निरन्तर सेवन करना अतियोग और बाहर से स्पर्श न करते हुए भी स्पर्श का रस बने रहना और मनसा चिन्तन मिथ्या योग है। यही नासिका से गन्ध के बारे में हीनाति मिथ्या योग हैं। वाणी द्वारा सत्य परन्तु कठोर अथवा अशिष्ट भाषण गाली देना हीन योग, वहुत बोलना अतियोग और विपरीत भाषण मिथ्या योग, अथवा ऊपर से तो मौन परन्तु मन ही मन में बोलना मिथ्या योग है। यही विचार कर्मेन्द्रियों द्वारा है। इसी प्रकार अन्तःकरण वृत्तियों द्वारा हीनाति मिथ्या योग पर प्रभुत्व संयम कहलाता है। देखना चाहिए, परन्तु हीनाति मिथ्या श्रवण न करके सुनना, योग है। चखना चाहिए, परन्तु हीनाति मिथ्या रसन न करके चखना, योग है। इसलिए स्वाध्याय से व्यक्ति इन्द्रियजित्, इन्द्रियनिग्रही और इन्द्रियसंयमी हो जाता है। अपनी इन्द्रियों का स्वामी, उनका राजा इन्द्र बन जाता है। "इन्द्रियसंयमो भवति"। यह हुआ स्वाध्याय श्रम से प्राप्त होने वाला छठा फल।

एकारामता भवति :

स्वाध्याय से होने वाले लाभों में सातवाँ लाभ लिखा है। "एकारामता भवति" स्वाध्यायशील व्यक्ति को एकारामता प्राप्त होती है। उसे ऐसा आराम प्राप्त होता है जो अपने आप में एक ही हो, अद्वितीय हो · उसकी उपमा न हो उसका सानी ढूढ़े न मिल सके ऐसे आराम को एकारामता कहते हैं। आश्रम का फल

आराम है और वह भी एकाराम तो समझना चाहिए कि व्यक्ति का श्रम सफल हुआ। हम आरम्भ में ही लिख आए हैं कि वैदिक धर्मी के लिए आराम का महत्त्व नहीं जितना आश्रम का महत्त्व है। आश्रम पालन उसका कर्त्तव्य है फिर स्वतः आराम की उपलब्धि होती। न केवल आराम की, अपितु एकाराम की। श्रम और राम से पहले जुड़े आङ्उपसर्ग ने इनके महत्त्व को सहस्रगुणित कर दिया है। श्रम तो हो परन्तु पूर्ण श्रम हो। सब ओर से श्रम हो, आश्रम हो। श्रमिक व्यक्ति का प्रत्येक अंग उसमें जुटा हो। उसी अवस्था में श्रम-आश्रम कहलाएगा। यदि श्रम में व्यक्ति का हाथ उठे और मन भरा हो तो समझना चाहिए कि यह आश्रम नहीं। परिपूर्ण राम की कल्पना व्यर्थ है। यदि सब ओर से सुख चाहते हो, आराम चाहते हो, तो आश्रम करो। इसी लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्याय आश्रम का फल एकाराम होता है।

आराम-विराम-उपराम :

आराम शब्द का अर्थ समझने से पहले विराम और उपराम शब्दों को समझना चाहिए। उस चिह्न को विराम कहते हैं जहां रुक जाना हो, फिर उससे आगे कुछ नहीं। परन्तु आराम उस अवस्था को कहते हैं जिसमें व्यक्ति का हर अंग रम जाए। उसमें इतना मस्त हो जाए कि किसी अन्य ओर ध्यान भी न जाए। उसे भले ही सांसारिक आराम कहें, परन्तु एकाराम न कह सकेंगे, जिससे मन उपराम होकर किसी अन्य में आराम अनुभव करे। पहली अवस्था से उपराम हो जाए, उचाट हो जाए, खिन्न हो

जाए और दूसरे की तलाश हो तो वह एकाराम अवस्था नहीं। हम सांसारिक सुखों में से एक का उदाहरण ले सकते हैं। नींद को समाधि के तुल्य माना गया है। परन्तु इससे भी मन उचाट हो जाता है और दूसरी अवस्था जागरण को पसन्द करता है। एकावस्था नहीं, एकारामता नहीं व्यक्ति एक करवट से लेटा हो तो थोड़ी देर में दूसरी करवट की कामना करता है तो यह एकारामता नहीं कहाएगी। एकारामता उस अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति एक से उपराम होकर अन्य की कामना न करे। यदि निद्रा हो तो एकाराम हो। जागरण हो तो एकाराम हो। किसी विषय सुख का सेवन हो तो एकारामता से हो। आहार-विहार, सभी में एकारामता आवश्यक है। सबमें एकारामता तभी आ सकती है जब व्यक्ति ने परमश्रम किया होता है। जब व्यक्ति सामान्य श्रम से अपने को थका लेता है, तो उसे जो अखण्ड नींद आती है तो उससे जो आराम अनुभव करता है उसे कहते हैं एकारामता। जब सामान्य श्रम का यह लाभ है तो परम श्रम स्वाध्याय का लाभ अवश्य ही एकारामता होगी।

एकारामता का अन्य अभिप्राय :

एकारामता का यह भी अभिप्राय है कि व्यक्ति एक अद्वितीय तत्त्व में ही रमण करे। एक और अद्वितीय तत्त्व सिवाय परमात्मा के और क्या है? जिसके लिए वेद ने स्वयं कहा है, "न द्वितीयो (अद्वितीयो) नतृतीयो चतुर्थोनाप्युच्यते, न पंचमी न षष्ठी सप्तनी नाप्युच्यते, न अष्टमी न नवमी दशमी नाप्युच्यते, स एकवृत एक एव" उसके समान दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा नहीं

पाँचवाँ नहीं छठा नहीं, सातवाँ नहीं, आठवाँ नहीं, नवाँ नहीं, दसवाँ भी नहीं, वह तो एक है निश्चय से एकवृत है। तो ऐसे एक अद्वितीय परमात्मा में ही रमना वास्तविक एकारामता है। जागतिक सुखों में तो एक से उपराम हुआ और दूसरे की कामना की। अभी जिसमें रमता था जिसे रमणीय समझता था। उससे उपराम हुआ और अन्य की तलाश आरम्भ कर दी। फिर एकारामता कहाँ ? एकारामता हो भी कैसे ? एक में रमने से ही तो एकारामता होगी। इसलिए स्वाध्याय से प्राप्त होने वाला सातवाँ लाभ "एकारामता भवति"।

एकारामता में एक अन्य भाव निहित है। आराम शब्द जहां उस स्थिति का सूचक है, जहां सब ओर से हट कर एक में रम जाना है। पूर्णतया रम जाना है वहां राम शब्द का अर्थ खिलाड़ी भी है। जिस धातु से यह शब्द बना है उसका अर्थ क्रीड़ा है "रमु क्रीडायाम्"। किसी वस्तु में रमने का अर्थ भी यही है कि उससे क्रीड़ा करना खेलना। सच्चा खिलाड़ी ही आराम का लाभ करता है। जैसे सच्चे खिलाड़ी के हाथ में आई हुई गेंद उसके हाथ में नाचती है, उसकी स्टिक पर नाचती है, उसके इशारे पर नाचची है। तद्वत् स्वाध्यायशील व्यक्ति जिस वस्तु में आराम अनुभव करता है वह वस्तु उसके हाथ का खिलौना बन जाती है। स्वाध्यायशील एवं खिलाड़ी के हाथ में नाचती है उसके इशारे पर चलती है। अभिप्राय यह कि वह उसे अपने हाथों में खिलाता है, उसके हाथों में नहीं खेलता। सांसारिक सुखों में रमता है, उनसे खेलता है, उनके हाथ में नहीं खेलता। बस सामान्य

व्यक्ति और स्वाध्यायशील व्यक्ति में यही अन्तर है। स्वाध्यायशील व्यक्ति यह सब जानकर भी अन्ततः उस परम अद्वितीय एक तत्त्व परमात्मा से खेलता है। यदि खिलौना बनता भी है, तो उसके हाथ का, खिलौना बनता है। ऐसे खिलाड़ी से खेल ठानता है जो अद्वितीय है, जो केवल एक ही है, जिसके तुल्य कोई नहीं। सामान्य व्यक्ति से खेलना उसे अच्छा नहीं लगता इस खल में जो आनन्द है वह साँसारिक खेलों में कहां ? कभी उसे अपने हाथों में खिलाता है तो कभी उसके हाथों में खेलता है। दोनों सखा जो ठहरे। इस सखा के साथ खेलने में जो आनन्द आता है वह आनन्द अद्वितीय होता है। इसलिए कहा, "एकारामता भवति"। स्वाध्याय का यह सातवां लाभ है।

प्रज्ञा वृद्धिर्भवति :

यदि मनुष्य स्वध्याय श्रम में जुटा रहे तो उसे जहाँ पहले सात लाभ होते हैं, वहाँ आठवाँ लाभ और सर्वोपयोगी लाभ उसकी प्रज्ञा वृद्धि होती है। उसे त्रैकालिकी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। त्रैकालिकी बुद्धि का ही नाम प्रज्ञा है। इसके सिद्ध हो जाने से सभी सिद्धिएं आ विराजती हैं। इसके चले जाने से सभी सिद्धिएं विदा हो जाती हैं। अपना आसन उठा लेती हैं। आचार्य चरक ने कितना यथार्थ कहा है, "प्रज्ञापराधो हि मूलं सर्वरोगाणाम्"। प्रज्ञा की भूल ही समस्त रोगों की मूल है। प्रज्ञा गयी कि समस्त रोगों ने डेरा जमा लिया। इस लिए व्यक्ति प्रज्ञा को किसी भी कीमत पर न जाने दे। जिसके पास त्रैकालिकी बुद्धि है उसे और क्या चाहिए ? जो अपने भूत, भविष्य और वर्तमान कालों का

द्रष्टा है, जो अपने भूत पर भी दृष्टि रखता है उसे अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता और जो अपने भविष्य पर भी दृष्टि रखता है। भूत-भविष्य के दो बिन्दुओं को मिलाकर वर्तमान में केन्द्रित कर लेता है। वह व्यक्ति कदापि हानि नहीं उठाता। वह प्राचीनता और नवीनता को मिलाकर चलता है वह बीते हुए कल और आने वाले कल को आज के दिन मिला कर चलता है। वह 'ह्य' और 'श्वः' के हाथ 'अद्य' में मिलाता है। वह व्यक्ति सदा सफलता प्राप्त करता है इसलिए कहा स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्रज्ञा-त्रैकालिकी बुद्धि, प्राप्त होती है। प्रज्ञा शब्द ही प्राकृत में पञ्जा और पण्डा हो गये हैं प्रज्ञा, पञ्जा और पण्डा बुद्धि की ही संज्ञाएं हैं। वह व्यक्ति पण्डित है जो प्रज्ञावान् है। इसका अभिप्राय हुआ कि स्वाध्यायशील व्यक्ति पण्डित बन जाता है। स्वाध्याय से प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। इसको महामति चाणक्य ने अपनी मोहर लगाकर प्रमाणित कर दिया है वे कहते हैं "श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञया योगो, योगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यम्" अर्थशास्त्र "श्रुतात् श्रवणात् प्रज्ञा उपजायते त्रैकालिकी बुद्धिः उपजायते।" स्वाध्याय से प्रज्ञा त्रैकालिकी बुद्धि उत्पन्न होती है और प्रज्ञा से योग "प्रज्ञया योगः शास्त्रोक्तानुष्ठान श्रद्धा" प्रज्ञा से शास्त्र विहित अनुष्ठानों में श्राद्धा होती है। कर्म में कुशलता प्राप्त होती है (योगः कर्मसु कौशलम्) की सिद्धि होती है। और "योगात् आत्मवत्ता, मनस्विता, सत्ववत्ता, उपजायते", योग से व्यक्ति को आत्म ज्ञान होता है, मनन सामर्थ्य और सत्व लाभ होता है। यह है विद्या सामर्थ्य, स्वाध्याय सामर्थ्य। जहाँ उसे आठवां लाभ प्रज्ञा लाभ हुआ कि उससे लगे

हुए यह उक्त सभी लाभ स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। प्रथम योग द्वितीय आत्म लाभ तृतीय सत्त्व लाभ हो जाता है।

भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस प्रज्ञा से होने वाले लाभों का वर्णन इस प्रकार किया है "वर्द्धमाना प्रज्ञा चतुरो धर्मात् ब्राह्मणं निष्पादयति", बढ़ी हुई प्रज्ञा, ब्राह्मण के लिए चार धर्मों को प्राप्त करा देती है।

१. ब्राह्मण्यम्, २. प्रतिरूपचर्याम्, ३. यशो, ४. लोकपक्तिम्।

ब्राह्मण्यम् :

आठवें लाभ के अन्तर्गत प्रथम लाभ ब्राह्मण्यता प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति को ब्राह्मण भाव प्राप्त होता है। स्वाध्याय का कोई अन्य लाभ हो वा न हो उसे ब्राह्मण्यता की प्राप्ति हो जाना ही अति उत्कृष्ट लाभ है। वह शूद्रत्व से निकलकर ब्राह्मणत्व की कोटि में आ जाता है। उसे अग्रता प्राप्त होती है वह मुखवत् मुख्य माना जाता है। हर व्यक्ति उसे मुखवत् समझता है और यही आशा करता है कि यह मेरी कहेगा, मेरी वाणी बनेगा और मेरी आवाज़ बनेगा। जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण को अपना मुख समझेगा तो अपने हाथ में आई भोज्य, पेय, चोष्य, लेह्य, आहुतियें भी उसी में डालेगा। स्वाध्यायशील व्यक्ति के ब्राह्मण्यता प्राप्त होने का यही अर्थ है कि सभी का अग्रसर, सभी का पूज्य, वन्दनीय और नमस्करणीय हो जाता है उसमें जो निजी-गुण हैं उनका तो कहना ही क्या उसके अतिरिक्त ब्राह्मण्यता का होना। सर्वभूतहितकामना सर्वदुःखानुभूति, संवेदनशीलता,

परोपकारिता, स्वार्थत्याग परमतपस्विता आदि गुण आविराजते हैं ।

प्रतिरूपचर्याम् :

स्वाध्यायशील व्यक्ति को आठवें लाभ, प्रज्ञालाभ के अन्तर्गत जहां ब्राह्मण्यता प्राप्त होती है । वहां प्रतिरूपचर्या की भी सिद्धि हो जाती है । जो भी आचरण वह अपनाता है वह उसमें मूर्तिमान् बन जाता है । उसकी प्रतिकृति बन जाता है । लोगों के लिए मिसाल बन जाता है अथवा अन्य व्यक्ति अपने आचरण सुधार के लिए कहीं मिसाल ढूंढ़ना चाहते हैं तो उस स्वाध्यायशील व्यक्ति में वे गुण मूर्तिमान् नज़र आते है । यदि वे चाहते हैं कि हम दयालु बनें तो उन्हें उस व्यक्ति में दयालुता प्रतिरूप दृष्टिगोचर होती है । यदि वे उदारता अपनाना चाहते हैं तो वे उस व्यक्ति में प्रतिकृति बनी देखते हैं । अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति वह दर्पण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सद्गुणों की प्रतिकृति, छाया देख सकता है । फिर तो "स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" । जिसे वह अपने आचरणचिन्ह से प्रमाणित कर देता है संसार उसका अनुचरण करता है ।

यशः भवतिः

स्वाध्याय से होने वाले इन दस लाभों से अतिरिक्त ग्यारहवां लाभ यश प्राप्ति है "यशो भवति" । व्यक्ति की कामनाओं में यश की कामना बड़ी बलवती है, यहाँ तक देखा गया है कि व्यक्ति सब कुछ भी दांव पर लगा कर नाम की रक्षा करना

चाहता है। नाम अमर हो जाए चाहे देह रहे न रहे धन रहे वा न रहे। याज्ञवल्क्य कहते हैं स्वाध्याय से यश की प्राप्ति भी होती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में जिसकी कीर्ति है वही जीवित है "कीर्तिर्यस्य स जीवति" जिसका नाम लोगों की जिह्वा पर संशब्दित है। उनके मुख से मुखरित है लोगों की जुबान पर विद्यमान है। वह व्यक्ति जीवित है। अमर है। लेकिन इससे पहले कि किसी की कीर्ति हो। उसका नाम लोगों की जिह्वा पर संशब्दित हो, मुख स मुखरित हो। यह आवश्यक है कि उसका नाम लोगों के हृदय पर छा जाए। नाम का जिह्वा से संशब्दित होना कीर्ति है और हृदय पर छा जाना, व्याप जाना यश है। कीर्ति से पहले यश का लाभ आवश्यक है। यश लाभ के विना कीर्ति लाभ असभव है। जब तक नाम हृदय पर घर न कर ले तब तक वाणी पर कैसे आ सकता है। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायशील व्यक्ति लोगों के दिलों पर घर कर लेता है। उसका यश होता है, उसका पुण्यगन्ध इतना फैल जाता है कि अनायास लोगों के हृदय पर अधिकार कर लेता है। उद्यान में खिले हुए पुष्प की भाँति उसका पुण्यगन्ध दिग् दिगन्त में फैल जाता है जो अनायास लोगों के हृदय पर अधिकार कर लेता है जैसे व्यक्ति दीर्घ श्वास लेकर पुष्पगन्ध को अन्दर भर लेना चाहता है तद्वत् यशस्वी व्यक्ति के पुण्यगन्ध को भी लोग अपने हृदय में भर लेना चाहते हैं यह उसे यश लाभ है। इस-लिए कहा "यशो भवति" उसका यश विस्तार होता है। पहले

उसका आचरण दिलों पर व्याप जाता है फिर उसका नाम जिह्वा से संशब्दित होता है। परन्तु व्यक्ति इतने लाभ से ही संतुष्ट नहीं रहता वह कुछ और भी चाहता हैं।

लोक पक्तिर्भवति :

एषणात्रय में लोकैषणा, अन्तिम एषणा है और कदाचित् व्यक्ति पहली दो एषणाओं, पुत्रैषणा और वित्तैषणा पर विजय पाले परन्तु लोकैषणा पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। यह एषणा तो बड़े से बड़े महात्मा में भी देखी जाती है। इससे तो कोई विरला ही अछूता होगा इससे अलिप्त व्यक्ति ही अलिप्त कहा जा सकता है परन्तु जिसे इसका लाभ ही नहीं हुआ, यदि वह कहे कि मैं अलिप्त हूँ तो यह विडम्बनामात्र है। इसलिए पहले उसे पाना पश्चात् उसका छोड़ना श्रेयस्कर है महर्षि याज्ञ-वल्क्य कहते हैं कि स्वाध्यायशील व्यक्ति की यह एषणा भी पूर्ण होती है। "लोकपक्तिर्भवति"। उसका लोक परिपाक हो जाता है। लोक सिद्ध हो जाता है।

लोक पक्ति का विषद् अर्थ : X

लोक पक्ति शब्द का विषद् अर्थ क्या है? इसे दिखाने से पहले इस पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है। लोक एषणा का अर्थ सामान्यतया यही लिया जाता है कि उसे यश की कामना है। वह अपना नाम चाहता है। यदि यही अर्थ अभीष्ट है, तो स्वाध्याय लाभों का वर्णन करते हुए ठीक इससे पहला लाभ यशलाभ कहा है। "प्रज्ञावर्द्धियंशो लोकपक्तिः" कि स्वाध्यायशील

व्यक्ति की प्रज्ञावृद्धि होती है। उसका यश होता है और लोक परिपाक होता है। अब विचारना चाहिए कि यदि लोकैषणा में आए लोक शब्द का अर्थ यश अथवा कीर्ति है तो यहाँ यश शब्द को अलग लिखने की क्या आवश्यकता थी। अथवा यूं समझें कि दोनों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। यदि नहीं तो दोनों में से एक शब्द अवश्य ही निरर्थक है। परन्तु ऐसा नहीं, यश लाभ का अगला फल लोक परिपाक है। जहाँ यश हृदय का विषय है। जहाँ कीर्ति वाणी का विषय है। वहां लोक आंखों का विषय है। जिसके यश वा कीर्ति आँखों से प्रत्यक्ष नहीं हो गए उसका अभी लोक परिपाक नहीं हुआ, कीर्ति कान का विषय है लोग गुणानुवाद गाते हैं उसके कानों तक प्रशंसा शब्द पहुँचते हैं। व्यक्ति चाहता है कि जो मेरे गीत गाते हैं। वे कौन लोग हैं, ज़रा मैं उन्हें आँखों से देखूं तो सही। वह सहस्रशः प्रशंसकों की भीड़ लगी देखना चाहता है। वह अपने गिर्द सभी ओर पुरुषों के जमघट देखने का इच्छुक है। अथवा लोग ही उसके सुनने वा देखने को टूटे पड़ते हो तो जानो कि उसका लोक परिपाक हो गया। "लोकपक्तिर्जाता" मानो यह लोग उसके पक्के भक्त हो गये। यह अवस्था यश से आगे की है यह कान का विषय नहीं आँखों का, लोचन का, (लोकृदर्शने) दर्शन का विषय है अर्थात् जब समाज में उसका यश व्याप जाता है। कानों कान बात फैल जाती है। जिह्वा-जिह्वा पर उसका संशब्दन होता है। तब उससे अगली अवस्था आती है कि व्यक्तियों की इच्छा होती है कि चलो उस व्यक्ति के दर्शन करें और इसी भावना से प्रेरित होकर दर्शनार्थी सहस्रों

रुपया लगाकर, सहस्रों मील की यात्रा करके, सैकड़ों कष्ट उठाकर, जब दर्शनार्थ जुट जाते हैं तो कहा जाता है उस व्यक्ति का लोक परिपाक हो गया दोनों ओर देखने की इच्छा है भक्त तो उस यशस्वी व्यक्ति को देखने आये हैं और यह दर्शनार्थियों के जमघट को देखने को उत्सुक है तो हुआ लोक परिपाक—"लोकपक्तिः" ।

"पक्की बात" :

प्रायः जब कभी दो व्यक्ति शर्त लगाते हैं तो परस्पर हाथ मिला कर कहते हैं कि अच्छा मित्र रही बात पक्की । ठीक है ना ? वह भी हाथ पर हाथ मार कर कहता है कि निश्चित, पक्की जानो । तो याज्ञवल्क्य भी स्वाध्यायशील व्यक्ति को विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि यह बात पक्की रही कि तुम्हारा लोक तो पक गया यदि तुम स्वाध्याय करोगे तो तुम्हें सब ओर से लोग घेरे रहेंगे । लोकैषणा वाली बात तो पक्की रही ।

पक्ति का अर्थ :

जब हम पकना क्रिया का प्रयोग करते हैं तो वहाँ क्या अर्थ लेते हैं जब हम कहते हैं यह ईंट बड़ी पक्की है तो इसका अर्थ यही है कि वह इतनी मज़बूत है कि तोड़ ने से टूटती नहीं । यही बात वहां भी लागू होती है कि जब कहते हैं कि अमुक के दाँत बड़े पक्के हैं । परन्तु जब हम कहते हैं कि लो चावल पक गये या अंगूर पक गये तो क्या वहाँ भी उसका यही अर्थ है कि चावल और अंगूर इतने कठोर हैं कि हथौड़े से भी नहीं टूटते, नहीं कदापि नहीं । तो फिर पकने का क्या अर्थ है कठोर होना वा गलना

क्योंकि दोनों के लिए पच् धातु का प्रयोग होता है तो इस समस्या का हल भगवान् पाणिनि महाराज ने कर दिया जहाँ "डुपचष्पाके" धातु बनाया वहाँ "पची व्यक्ति करणे" भी एक और धातु का निर्माण कर दिया। जिसका अर्थ यह हुआ कि पकना क्या है पदार्थ का व्यक्तिकरण प्रकटी करण वा स्पष्टीकरण अर्थात् उसका व्यक्तित्व सामने आ जाना। हम किसी को जब व्यक्ति शब्द से व्यवहृत करते हैं तो वहाँ भी यही अर्थ होता है कि वह मनुष्य पका हुआ है। अनुभवी जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए आवश्यकता है वह उसके अनुरूप है। दाँतों का व्यक्तित्व इसी में है कि आई वस्तु को पीस डाले इसी में उनका पक्कापन है। और अंगूर का व्यक्तित्व इसी में है कि वह मुख में आते ही घुल जाएं। घड़े और ईंट का पक जाना यही है कि जिस प्रयोजनार्थ वह बने उसके अनुरूप हों जिस घड़े में पानी भरते ही उसका व्यक्तित्व घुल गया तो पता चला कि वह पक्का नहीं। तो पकना क्या है ? किसी का व्यक्तित्व सामने आ जाना, अब लोकपरिपाक का यही अर्थ हुआ कि उसका लोक व्यक्त हो गया वह तो पक गया इसमें सन्देह ही नहीं।

लोक परिपाक :

जहाँ पक्ति शब्द में इतना अर्थ गर्भित है वहाँ लोक शब्द में भी विस्तृत अर्थ निहित है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि लोक शब्द में जितने अर्थ निहित हैं वह सभी पक जाते हैं उनका व्यक्तिकरण हो जाता है। "लोकपक्तिर्भवति"।

दोनों लोक :

हम प्रायः इह लोक और परलोक शब्दों का प्रयोग करते हैं इससे अतिरिक्त "भूर् भुवः स्वः" इत्यादि सप्त लोकों का वर्णन भी करते हैं। परन्तु स्वाध्याय से होने वाली लोक पक्ति में तो लोक द्वय ही सम्मिलित हैं वह बड़े ही प्रसिद्ध हैं इह और पर, इहलोक में इह का निर्देश स्पष्ट ही इस लोक, यहाँ के लोक से, दुनियाँ से है अभिप्राय स्पष्ट ही पराये से, दूसरे से है वह व्यक्ति जीवित रहते इहलोक की सिद्धि तो करता ही है परन्तु उसे परलोक की सिद्धि तो निश्चय ही हो जाती है। और मरणोपरान्त उसे पा लेता है। अर्थात् उसे जहाँ इहलोक सिद्ध हो जाता है वहाँ पर-लोक भी सिद्ध हो जाता है।

लोक त्रय :

"त्रयो वाव इमे लोकाः" जिसका अर्थ मनुष्यलोक, पितरलोक, देवलोक, हुआ, वह मनुष्य लोक को प्राप्त होता है इसका यही अभि-प्राय है कि वह ऐसे समाज में रहता है जहां मनुष्यों के दर्शन होते हैं। उसका देवलोक पक जाता है का अभिप्राय यही है कि वह ऐसे समाज में रहता है जहां देवों के दर्शन होते हैं। शतपथकार ने अन्यत्र लिख कर देव और मनुष्य की परिभाषा कर दी कि "सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः"। जिनको ऋत सिद्ध हो गया है वे देव अर्थात् जा अपरिवर्तित नियमों के ज्ञाता हैं और उन पर आचरण भी करते हैं, वे देव और जो ऋतनियमों के पालन करने में भूल कर जाते हैं वे अनृत हैं अर्थात् मनुष्य हैं। जो नाप तोल कर चलते हैं वे देव और जो नाप तोल कर नहीं चल

पाते वे मनुष्य, अर्थात् उसें दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के दर्शन होते हैं।

जहाँ मनुष्य लोक और देवलोक की सिद्धि होती है, वह पितर लोक भी जीत लेता है। अर्थात् उसे पितरो के दर्शन होते हैं वह ऐसे समाज में, निवास करता है जहाँ पितरों के दर्शन होते हैं। अर्थात् वह मनुष्य लोक को जीत लेता है मानो ब्रह्मचर्य लोक को जीत लेता है देवलोक को जीत लेता है मानो सन्यास को जीत लेता है। पितर लोक को जीत लेने का अभिप्राय है कि वह वानप्रस्थ व्यक्तियों का प्रिय बन जाता है।

"लोक पक्ति" का महत्त्वपूर्ण अर्थ :

जहाँ लोक पक्ति का अर्थ लोक संग्रह है। वहाँ लोक शब्द का अर्थ दर्शन शक्ति भी है। अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति की दृष्टि पक जाती है। वह अब आप्त बन जाता है। साक्षात्कर्त्ता हो जाता है। उसकी दर्शन शक्ति इतनी सूक्ष्म और पैनी हो जाती है कि वह हर पदार्थ की गहराई में जाकर उसकी तह तक पहुँच जाता है। उससे कुछ ओझल नहीं रहता उसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है। दिव्यदृष्टि मिल जाती है। पहिले दर्शन शक्ति पक जाती है फिर उसकी दिव्यदृष्टि का लाभ उठाने के निमित्त लोग इकट्ठे होने लगते हैं, लोक संग्रह होने लगता है।

स्वाध्याय से होने वाले लाभों में अन्तिम लाभ का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "लोकपक्तिर्भवति" उसकी दृष्टि पक जाती है उसका दर्शन संशय रहित होता है दिव्य द्रष्टा बन जाता है। वह भविष्य वक्ता बन जाता है, ऐसे व्यक्ति के पास स्वभा-

अतः लोगों का आना जाना लगा रहता है, लोग उसके पक्के शिष्य वन जाते हैं। उसका लोक-संग्रह सिद्ध हो जाता है। आगे इस लोक पंक्ति का लाभ कहते हुए याज्ञवल्क्य लिखते हैं। "लोकः पच्यमानः चतुर्भिधर्मैं ब्राह्मणं भुवक्ति अर्चया च, दानेन च, अज्येयतया च, अवध्य तथा च, (पंच्यमानः) परिपक्व, हुआ, (लोकः) मनुष्य समाज (लोग) वा दर्शन शक्ति (ब्राह्मणम्) स्वाध्यायशील ब्राह्मण को (चतुर्भि) चार प्रकार के (धर्मैः) कर्त्तव्यों से (भुवक्ति) सेवन करता है। (अर्चचा च) अर्चना से। सेवा सत्कार से (दानेन च) स्थूल आर्थिक दान से (आज्येयतया च) अजेयता. न परास्त होने वाली सामर्थ्य से (अबध्यनतया च) (अहिंसनीय हो जाने से) उसे अबध्यता का वरदान मिल जाता है।

अचर्या ब्राह्मण भुवक्ति :

पका हुआ मनुष्य समाज, सेवा से सतकार से पूजा से, ब्राह्मण को सेवन करता है। यदि स्वाध्यायशील व्यक्ति का सेवन करना है, उसकी समीपता में रहना हो, उसके संग से लाभ उठाना है तो पहला प्रकार अर्चना है, पूजा है। यथायोग्य सत्कार है। मनुष्य समाज यथायोग्य सत्कार द्वारा ही उसके पास पहुंचता है। अर्चना का अर्थ पूजा है और पूजा का अर्थ यथा-योग्य सत्कार है। यथा योग्य सत्कार में अनेक विधियाँ हैं। सर्व प्रथम उसे उच्चपद पर आसीन करता है। जब उसके समीप आना होता है तो लोग अभिमान को हटा कर, वशीभूत होकर उसे उच्चा-सन पर बिठा कर स्वय नीचे बैठ कर सेवन करते हैं।

दूसरे जब उसके पास आते हैं तो श्रद्धान्वित होकर आते हैं विनयशील नम्रीभूत होकर आते हैं। जहां स्वाध्यायशील व्यक्ति की अर्चना होती है, वहां उनमें विनय, श्रद्धा नम्रता आदि गुण आते हैं। इसी अर्चना से लोक में उसका सेवन करते हैं। फिर प्रणिपात उसके सामने झुक कर प्रणाम करते हैं। निम्न आसन पर बैठकर बहुत शालीनता से प्रश्न करते हैं और उस दिव्यद्रष्टा से सब का समाधान पाकर हर प्रकार की शंका निवृत्त करते हैं। यदि उसे शारीरिक सेवा की आवश्यकता हो तो भी वह करते हैं। यह सभी अर्चना के अंग हैं। स्वाध्यायशील व्यक्ति को उच्चासन पर आसीन करना, उसके सामने झुकना, श्रद्धा पूर्वक निम्न स्थान पर बैठना। नमस्कार करना, परिप्रश्न करना सभी अर्चना के ही रूप हैं। सो ब्राह्मण को अर्चना के यह सभी प्रकार प्राप्त होते हैं।

दानेन ब्राह्मणं भुनक्ति :

स्वाध्यायशील व्यक्ति के सेवनार्थ जहाँ मानसिक दान का रूप उसके प्रति श्रद्धा, नम्रता प्रणाम, परिप्रश्न आदि हैं, वहाँ स्थूल पदार्थों के दान-दक्षिणा द्वारा भी उसका सेवन करते हैं। उसकी सेवा में जाते समय अपने हाथों में समर्पणार्थ कुछ न कुछ लेकर जाते हैं। उसे यदि भोजन की आवश्यकता होती है तो उसे भोजन देते हैं। यदि वस्त्रों की आवश्यकता हो तो वस्त्र पहनाते हैं। यदि उसे स्वाध्याय सामग्री, पुस्तक लेखनी आदि की आवश्यकता होती है तो सब, बात की बात में जुटा देते हैं। उसे कहने अथवा हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं होती, यह सब दान द्वारा उपलब्ध हो जाता है।

अजेयतया च ब्राह्मणं भुनक्ति :

मनुष्य समाज जहाँ अर्चना करता है, उसके प्रति भेंटें समर्पित करता है, वहाँ उसे अज्येय मानकर व्यवहार करता है। स्वाध्याय से व्यक्ति अजेय हो जाता है और इसकी सेवा करने वाले यह समझकर आते हैं कि यह अज्येय है वह अभिमान, मद मत्सर आदि का परित्याग करके ही आते हैं, वह छल-छद्म, दम्भ को छोड़कर ही आते हैं, वह जानते हैं कि यह व्यक्ति सर्वथा अजेय है, इसे जीतना सहज नहीं, इस प्रकार जहां स्वाध्यायशील व्यक्ति को अनेकों लाभ होते, हैं वहां लोक परिपाक रूप फल से होने वाले लाभों में अर्चना, दान, अजेयता हैं।

अबध्यतया च ब्राह्मणं भुनक्ति :

लोक-परिपाक का एक फल अबध्यता है। वह अबध्यता प्राप्त कर लेता है। सभी लोग उसे अबध्य मानकर उसका सेवन करते हैं। उसे यह मानकर कि इसकी रक्षा में ज्ञान की रक्षा है, समृद्धि है। इसकी रक्षा में हमारे अधिकारों और सत्वों की रक्षा है, इसलिए वह रक्षणीय है; अबध्य है। हज़ार उपाय करके भी इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है; अपने प्राणों की हवि देकर भी इस की जान बचाना हमारा कर्त्तव्य है। वह सब के लिए अबध्य हो जाता है। सबसे रक्षणीय हो जाता है। उसे निर्भयता प्राप्त हो जाती है। उसे जहाँ अजेयता का वरदान मिल जाता है, वहां अबध्यता का वर भी प्राप्त हो जाता है। उसका शत्रु ही नहीं रहता, अजातशत्रु बन जाता है।

इस प्रकार शतपथकार ने स्वाध्याय की महिमा बताते हुए सोलह लाभ बताए हैं जो निम्न हैं।

१. युक्तमना भवति।
२. अपराधीनो भवति।
३. अहरहरर्थान् साधयते।
४. सुखं स्वपिति।
५. परम चिकित्सक आत्मनो भवति।
६. इन्द्रिय संयमः भवति।
७. एकारामता भवति।
८. प्रज्ञावृद्धिर्भवति।
९. ब्राह्मण्यम्।
१०. प्रतिरूपचर्याम्।
११. यशः भवति।
१२. लोक पंक्ति भवति।
१३. अर्चया ब्राह्मणं भुनक्ति।
१४. दानेन ब्राह्मणं भुनक्ति।
१५. अज्येयतया ब्राह्मणं भुनक्ति।
१६. अवध्यतया ब्राह्मणं भुनक्ति।

—: :—

|||
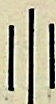
शतपथ ब्राह्मण के इसी एकादश काण्ड में स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो विद्वान् प्रतिदिन स्वाध्याय-यज्ञ करता है, उसे द्रव्ययज्ञ से होने वाले फल की अपेक्षा, त्रिगुणित फल मिलता है। कोई यजमान द्रव्ययज्ञ की समाप्ति पर धन से परिपूर्ण पृथिवी को दान देकर यदि एक लोक को जीतता है,* तो स्वाध्याय यज्ञ को करने वाला तीनों लोकों को जीतता है। लिखा है "यावन्तं ह वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां दर्दँल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति।" धन से परिपूर्ण पृथिवी को दान देने पर जितने लोक जीतता है, स्वाध्यायशील व्यक्ति ठीक उनसे तिगुने लोको को जीत लेता हैं।

---

* त्रयो वाव लोक, मनुष्य लोक, पितृलोक, देवलोक इति।

यदि द्रव्ययज्ञ करने वाला एक मात्र भू लोक को जीतता है तो स्वाध्याय यज्ञ करने वाला भूः भुव और स्व. लोकत्रय को जीतता है। यदि सामान्य यज्ञ करने वाला, मनुष्य लोक को जीतता है, तो स्वाध्याय यज्ञ करने वाला मनुष्य लोक पितृलोक और देवलोक तीनों को जीतता है। यदि वह मनुष्य लोक (ब्रह्मचर्याश्रम) को जीतता है तो स्वाध्याय यज्ञ करने वाला मनुष्य लोक (ब्रह्मचर्याश्रम) पितृ लोक (वानप्रस्थाश्रम) देवलोक (सन्यासाश्रम) को जीत लेता है।

अक्षय लोक :

फिर आगे लिखते हैं, "भूयांसं चाक्षय्यं लोकं जयति य एवं विद्वान् अहरह स्वाध्यायमधीते" शतपथ० ११-३-८-३। जो विद्वान् इस प्रकार दिन प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह उस से भी बढ़कर अक्षय लोक को जीतता है। अक्षय लोक का अर्थ ब्रह्म लोक ही, न क्षीण होने वाला, अक्षय लोक है। और यदि ब्रह्म का अर्थ-वेद लिया जाय, तो स्वाध्यायशील व्यक्ति का तो वेद ही अक्षय लोक है। वही उसका अक्षय लोक है। सोते-जागते वेद ही उसके चिन्तन का विषय है। उसी का मनन उसी का चिन्तन। इस प्रकार जहाँ वह जागतिक लोकत्रय को जीत लेता है, वहीं वह पारमार्थिक अक्षय ब्रह्म लोक को जीत लेता है।

पुनर्मृत्यु से मुक्ति :

"स ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते गच्छति ब्राह्मणः सात्मताम्॥" श० ११-३-८-९

वह स्वाध्याय-शील व्यक्ति पुनर्मृत्यु से छूट जाता है। इस

एक बार के प्रयत्न से यदि उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो गया, तो उस का ब्राह्मणत्व मरता नहीं। वह पुनर्जन्म धारण करके भी वहीं से कार्य आरम्भ कर देता है। क्योंकि स्वाध्याय से ब्रह्म की सात्मता को प्राप्त करलेता है। वेद को आत्मसात् कर लेता है, ब्रह्म (आनन्द) को आत्म सात् कर लेता है, इसलिए पुनर्मृत्यु से छूट जाता है। उसे द्विज बनने के लिए पुन: आचार्य अर्थात् मृत्यु के बन्धन में नहीं आना पड़ता। यही आशय "स ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते"।

इसी आशय को राजर्षि मनु ने अपने शब्दो में यूं व्यक्त किया है।

> वेदाभ्यासेन सततं शौचेव तवसैव च।
> अद्रोहेण च भूतानां जतिं स्मरति पौर्विकीम्। मनु० ४-१४८

निरन्तर स्वाध्याय करने, शुचि रहने, और तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से 'अपने' पूर्व जन्म को जान लेता है। (पुनर्जन्म को जान लेना ही पुनर्मृत्यु से मुक्ति है) मनु आगे लिखते हैं।

> पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्राह्मैवाभ्यसते पुनः
> ब्रह्माभ्यसेन चाजसुमनन्त सुखमश्नुते। मनु० ४-१४९

पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ। पुन नित्य वेद का ही अभ्यास करता है। उस वेदाभ्यास से (स्वाध्याय से) अनन्त सुख भोगता है। शतपथ के "अक्षय्यं लोकं जयति" "ब्राह्मणः सात्मतां गच्छति"

को मनु के "ब्रह्माभ्यासेन चाजसुं अनन्तं सुखमश्नुते" से मिलाकर आशय समझलेना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण के ११-५-८-४ में लिखा है कि जिस प्रकार द्रव्य यज्ञों में जुहू, उपमृत्, ध्रुवा, स्रुक्, आदि पात्र होते हैं, तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ में भी वाणी, मन, मेधा, चित्त आदि पात्र हैं। जिस प्रकार द्रव्य यज्ञ में पय, आज्य, स्नेह, मधु, आदि की आहुतियां दी जाती हैं, तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ में भी ऋग्, यजु, साम और अथर्व वेद की ऋचाओं को ही पयादि आहुतियाँ माना है।

स्वाध्याय यज्ञ की आहुतियां :

स्वाध्याय यज्ञ में—

ऋग्वेद की ऋचाएं दूध की आहुतियां हैं।
यजुर्वेद की ऋचाएं घृत की आहुतियां हैं।
सामवेद की ऋचाएं सोम की आहुतियां हैं।
अथर्ववेद की ऋचाएं स्नेह की आहुतियां हैं।

जिस प्रकार दूध, घृत, सोम, मधु, आदि की आहुतियों से देवता तृप्त होते हैं, वैसे ही स्वाध्याय यज्ञ में ऋक् यजु साम और अथर्व की ऋचा रूप आहुतियों से देव तृप्त होते है।

जिस प्रकार साधारण यज्ञ में तृप्त हुए देव यजमान को अनेक मङ्गलों से तृप्त करते हैं, तद्वत् स्वाध्याय यज्ञ में डाली गई हवियों से तृप्त हुए देव स्वाध्यायशील व्यक्ति को अनेक मङ्गलों से तृप्त करते हैं, लिखा है :—

"स य एवं विद्वान् ऋचः अहरहः स्वाध्यायमधीते पय आहुतिभिर्ह तद देवाँस्तर्पयति त ऽ एनं तृप्तास्तर्पयन्ति। योगक्षेमेण, प्राणेन रेतसा, सर्वात्मना, सर्वाभि पुण्याभि, सम्पद्भिः घृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन् स्वधा अभिवहन्तिं। शतपथ ११–५–८–४

वह विद्वान् जो इस प्रकार वेद चतुष्टय की ऋचा रूप हवि का दान करता रहता है। उस से तृप्त होकर देव स्वाध्यायश ल व्यक्ति को योगक्षेम, प्राणशक्ति, वीर्यशक्ति, सम्पूर्ण आत्मलाभ, समस्तपुण्यों और सम्पत्ति से युक्त करते हैं और (वानप्रन्थ में) पितरों को भी घृत और मधु की धाराएँ पहुँचाते हैं।

योगक्षेम से तृप्त करते हैं :

देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति को योगक्षेम से तृप्त करते हैं। योगक्षेम में दो शब्द हैं, एक योग, दूसरा क्षेम। "अलब्धस्य लाभोयोगः" अप्राप्त वस्तु का लाभ योग है। योग शब्द का अर्थ है युक्त होना, अर्थात् अप्राप्त वस्तु से युक्त हो जाना और उस प्राप्त वस्तु की रक्षा क्षेम है। "लब्धस्य परिपालन क्षेमः" इन दोनों से युक्त होना योगक्षेम है, अर्थात् योग सहितक्षेम को ही योगक्षेम कहते हैं। वेद के राष्ट्रीय मंत्र में इसका उद्घोष है, 'योगक्षेमो नः कल्पताम्।" हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। बस स्वाध्याय से उस योगक्षेम की सिद्धि होती है।

प्राण और प्रजननशक्ति से तृप्त करते हैं :

इससे आगे लिखा है कि ऋचारूप पयादि की आहुतियों से तृप्त हुए देवता स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्राण और रेतस्

शक्ति से तृप्त करते हैं। प्राणन् और प्रजनन् शक्तिए ही जीवन का आधार हैं। प्राणवान् और वीर्यवान् व्यक्ति ही र्ज वित हैं। वस्तुतः योग और क्षेम दोनों का आधार भी प्राण और वीर्य ही हैं। प्राणन् शक्ति से ही अलब्ध का लाभ होता है और प्रजनन् शक्ति से लब्ध का परिपालन संभव है। अतः देवता जहाँ योगक्षेम से तृप्त करते हैं वहाँ प्राण और प्रजनन् शक्ति से भी तृप्त करते हैं।

सर्वात्मना तर्पयन्ति :

देवता स्वाध्याय शील व्यक्ति को जहाँ योग क्षेम से तृप्त करते हैं, जहां प्राण और वीर्य से सम्पन्न करते हैं, वहाँ सर्वात्मना तृप्त करते हैं। सर्वात्मना तृप्त होने का यही अर्थ है कि ऐसी तृप्ति कि जिसके पश्चात् उन्हें कोई और इच्छा नहीं रहती। वे अपने आप से ही तृप्त होते हैं। उसे अपने आप से तृप्त होने लगती है। वह आत्म तृप्त होता है। अथवा उसे देवता, यक्षआदि इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण देह से युक्त कर देते हैं।

उसकी महिमा में पुनः कहा है, कि समस्त पुण्यों से, समस्त ऐश्वर्यों से. तृप्त करते हैं अर्थात् स्वाध्यायशं.ल व्यक्ति पुण्यात्मा और सम्पत्तिवान् हो जाता है।

स्वाध्यायशील व्यक्ति की आहुतियों से देवता तो तृप्त होते ही हैं पितर भी घृत और मधु की धाराओं से तृप्त होते हैं। देवता जहाँ ऋग्-यजु रूप घृत-मधु से तृप्त होते हैं, वहाँ अपने यजमान के वानप्रस्थ पितरों को भी भौतिक घृत मधु की धाराओं से तृप्त करते हैं। इस प्रकार शतपथकारने स्वाध्याय महिमा

का गान करते हुए अनेकों मङ्गलों का वर्णन किया है। हम पहले सोलह लाभों की व्याख्या कर चुके हैं, उनमें योगक्षेत्र, प्राण, वीर्य सर्वात्मलाभ, समस्त पुण्य सम्पत्ति, तथा पितरों की तृप्ति को सम्मिलित कर लिया जाय तो यह संख्या चौबीस पच्चीस मङ्गलों तक पहुँच जाती है।

वेद *वर्णितस्वाध्याय के लाभ :*

हमने ऊपर शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से स्वाध्याय के अनेक लाभों का उल्लेख किया है। उनका मूल स्रोत वेद ही है। स्वयं भगवान् निम्म ऋचाओं में स्वाध्याय का फल उद्घोषित करते हैं।

पावमानी यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मैं सरस्वती दुहें क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ऋग्वेद ९।६७।३२

(या) जो व्यक्ति (ऋषिभः) अग्नि, वायु, आदि ऋषियों द्वारा (संभृतम्) सम्यक् भरण किए (रसम्) वेदज्ञान को (अधि एति) अधिकृत रूप से पारायण करता है [और समय आने पर उनका प्रवचन भी करता है] (तस्मै) उस स्वाध्याय और प्रवचन-कर्ता के लिए (पावमानी) पवित्र करने वाली (सरस्वती) वेदरस से युक्त वाणी (क्षीरम्) क्षरण शील दुग्ध (सर्पिः) घृत (मधु) शहद (उदकम्) हर प्रकार के उत्तम पेयों को (दुहे) दुहदेता है। परिपूर्ण कर देती है।

इसी बात को राजर्षिमनु ने लिखा है।

या स्वाध्यायमधीते ऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयोदधि घृतः मधुः। मनु २-१०-७

(यः) जो व्यक्ति (स्वाध्यायम्) वेदाध्ययन रूप स्वाध्याय को (विधिना) विधि सहित (नियता) प्रयत्न पूर्वक नियत समय, प्रतिदिन संयतात्मा होकर (शुचि?) अन्दर बाहर से पवित्र होकर (अब्दम्) वर्ष भर (अधीते) अध्ययन करता है। तस्य (उसका) (एषः) यह अध्ययन (नित्यम) [स्वाध्यायशील व्यक्ति को] प्रति दिन (पया) यह दूध (दधि) दही (घृतम्) घी और (मधुः) शहद देता है।

यह तो सामान्य लाभ हैं, जिनका वर्णन वेद भगवान् ने किया है। इस से भी अधिक महत्त्व पूर्ण वर्णन अथर्व वेद के उन्नीसवें काण्ड के इकहत्तरवें सूक्त के प्रथम मंत्र में मिलता है। जब परन्मामा आदि सृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ जो ज्ञान ऋषियों की आत्मा में संभृतकर रहे थे, उस समय ज्ञान का उपसंहार करते हुए आदेशात्मक निम्न मंत्र प्रकाशित किया।

"स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचोदयान्ताम् पावमानीद्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्व० १९–७१–१

आदि सृष्टि में ऋषियों की आत्मा में ज्ञान संभृत कराते हुए (मया) मैंने हीं जिसका (स्तुता अथवा प्रस्तुता) स्तवन अथवा प्रस्ताव किया है और जो (वेद-माता) समस्त ज्ञान की निर्मातृ समस्त लाभों (विद्लृलाभे) की निर्मातृ है, और जिसकी कुक्षि में रह कर व्यक्ति द्वितीय जन्म धारण करता है, अतः (द्विजानाम्) द्विज निर्मातृ है। न केवल द्विज निर्मातृ है, अपितु

(द्विजानां पावमानी) द्विजों को पवित्र करने वाली है। यह वेद-माता (वरदा) वरों की देने वाली। जो मांगों वह अबाध गति से देने वाली है, परन्तु उस माता का एक आदेश है कि (प्रचोदयन्ताम्) इसे सर्वत्र प्रेरित करो, प्रचारित करो। इस से तुम्हें निम्न वर अथवा मण्डल मिलेंगे। १ (आयुः) दीर्घ जीवन, २—(प्राणम्) [उसका आधार] प्राण शक्ति, (प्रजाम्) प्रजननशक्ति) और सन्तान, (पशुम्) पशु धन, (कीर्तिम्) यश. (द्रविणम्) धन और (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मवर्चस तेज। ये सात मंगल वे हैं जिनमें सभी लौकिक मंगलों का समावेश हो गया है। इस के अतिरिक्त पारलौकिक मंगल है। वह भी तुम्हारे लिए है परन्तु उसके लिए शर्त है कि इन सातों लौकिक मंगलों को मुझे दे दो और (मह्यंदत्त्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोकम्) मोक्ष धाम को (व्रजथ) चले जाओ।

उक्त मंत्र से निम्न बातें प्रकाश में आती हैं—

(१) कि मेरे द्वारा प्रस्तावित वेद का ही स्वाध्याय और प्रवचन करो, जो कि अपौरुषेय ज्ञान है, जिसके लिए भगवान् स्वयं कहते हैं।

मया स्तुता :

ईश्वर कहते हैं कि आदि सृष्टि में ऋषियों की आत्मा में मैंने ही इस वेद का प्रस्ताव किया था। मैंने ही स्तवन किया था। यदि मैंने स्तवन न किया होता, तो न वे ज्ञान संभृत कर

पाते और न ज्ञान का संसार में विस्तार हो पाता। यह मेरे द्वारा ही प्रस्तुत किया हुआ ज्ञान है। मया (प्र) स्तुता।

वेद माता :

मनुष्य के दो जन्म होते हैं एक शारीरिक जन्म और दूसरा बौद्धिक जन्म। इन दो प्रकार के जन्मों के लिए दो ही प्रकार की माताओं का आवश्यकता है। एक जो साधारण माता की, जिससे शारीरिक जन्म धारण किया जाता है। परन्तु दूसरी वेद माता जिससे दिव्य जन्म धारण किया जाता है। अतः उसके अनुरूप ही इस माता का नाम वेदमाता कर दिया है। संसार में जितना ज्ञान है, उसका निर्माण इसी से हुआ था, हो रहा है, आगे होगा। इसकी कुक्षि से उत्पन्न हो कर ही व्यक्ति द्वितीय जन्म धारण करता है। इसलिए कहा कि द्विजानाम् वेद माता। द्विजों का निर्माण करने वाली वेद माता है।

वरदा वेदमाता :

वेद शब्द का अर्थ जहाँ ज्ञान है, वहाँ एक अर्थ लाभ भी है। संसार में जितने लाभ हैं, उनकी भी यही निर्मातृ हैं। जहाँ ज्ञान निर्मातृ है, वहाँ लाभ निर्मातृ है। हर व्यक्ति लाभ का ही वरण करता है और प्रत्येक लाभ वह अपनी माता से ही माँगता है। इसलिए इस वेदमाता का एक विशेषण वरदा। यह माता वरों को देने वाली है, जो इस से वर माँगो देती है। आवश्यक है कि हम उसके सच्चे पुत्र बन कर उससे माँगने जाएँ और माँ का आदेश पालन करें। उसका एक मात्र यही आदेश है कि इस को सर्वत्र प्रसारित करो (प्रचोदयन्ताम्)।

सातवर :

वेद ज्ञान का प्रचार और प्रसार करने से तुम को इहलोक और परलोक के सभी वर मिलेंगे। इहलोक के मंगलों का यदि विस्तार किया जाय तो उसे तीन एषणाओं मे बाँटा जा सकता है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा। इन्हीं तीनों एषणाओं का उक्तमंत्र में प्रजाम्–द्रविणम् और कीर्तिम् कह कर किया गया है। एषणात्रय तो वर रूप में मिलेंगे ही, परन्तु जिसके बिना सब व्यर्थ है, वह जीवन भी वर रूप में मिलेगा और प्रथम मिलेगा। इसलिए आयु और प्राण की गणना सर्व प्रथम कराई गई है।

यदि मनुष्य जीवित रहे, तो अनेक भद्रों को देखता है, "जीवन्नरः भद्र शतानिपश्यतिः।" व्यक्ति का जीवन ही समाप्त हो जाए, तो पुत्र, द्रविण, और कीर्ति रूप भद्र प्राप्त करके भी क्या करेगा? इसलिए जीवन का महत्त्व सर्वोपरि है। इसलिए इन दोनों मंगलों की गणना सर्व प्रथम कराई गई है, आयुः। प्राणाम् और सब के अन्त में ब्रह्मवर्चस की गणना की गई है। जिसे शतपथकारने स्वाध्याय का फल बताते हुए, ब्रह्मण्यता प्राप्त होना लिखा है. और जिसे राजर्षिमनुने "स्वाध्यायेन ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः।" कहा उसे ही भगवती श्रुतिने "ब्रह्मवर्चसम्" उद्घोषित किया है। राष्ट्रीय मंत्र में पढ़ा जाता है, "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्;" इस प्रकार वेदने स्वयं वेदों के स्वाध्याय का फल बताते हुए, इहलोक के मंगलों में उन सभी इच्छाओं को इस प्रकार समेट लिया है, जो व्यक्ति के मन में उठ सकती हैं। वह क्रमश. सात हैं।

१. आयु, २. प्राण, ३. प्रजा, ४. पशु, ५. कीर्ति, ६. द्रविण (धन) ७. ब्रह्मवर्चसतेज, ८. ब्रह्मलोक।

स्वाध्याय से न केवल उक्त ऐहलौकिक मंगल ही मिलेंगे। अपितु पारलौकिक सर्वोपरि मंगल भी प्राप्त होगा, और वह है (ब्रह्मलोक) परमात्म साक्षात्कार। इस प्रकार इहलोक के सात मंगलों और परलोक के एक मंगल को मिलाकर आठ मंगलों में ही व्यक्ति की समस्त कामनाओं का समावेश हो गया है। इस प्रकार स्वयं भगवती श्रुति नेहीवेद स्वाध्याय और प्रवचन के उक्त आठ लाभ दर्शाएँ हैं, जिन्हें शतपथ मनु आदि ने पल्लवित किया है। निष्कर्ष है कि वेदाज्ञा समझकर मनुष्य को स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

इसी बात को तैत्तिरीयारण्यक २-१०-१३ में इस प्रकार कहा है, जो व्यक्ति स्वाध्याय यज्ञ में नित्य ऋचारूप आहुतियां देता है। देवता ब्रह्म यज्ञ से प्रसन्न होकर जो पुरस्कार देते हैं, वे हैं दीर्घ आयु, दीप्ति, चमक (तेज) सम्पत्ति, यश, आध्यात्मिक उच्चता और भोजन। सभी शास्त्रों ने स्वाध्याय की महिमा में उसके फलों का एक सा ही वर्णन किया है। अतः स्वाध्याय फल लाभ की दृष्टि से भी करना चाहिए।

"लोक के प्रति व्यक्ति का कर्त्तव्य"

॥।

यह लोक, यह समाज, व्यक्ति के आश्रित चलता है और व्यक्ति का समुचित निर्माण समाज के आश्रित है। अतः परस्पर एक दूसरे के प्रति दोनों के कर्त्तव्य हैं। व्यक्ति लोक और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ कर कुछ न कुछ अर्पित करे और उस अर्जित फल को समाज के प्रति समर्पित करे।

अयः आय-न्याय-अध्याय :

व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह कुछ न कुछ सवन करे। वह सवन चार प्रकार का है। प्रथम अय, द्वितीय आय, तृतीय न्याय, चतुर्थ अध्याय। राष्ट्र में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो अय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति अय दान करते हैं। वे शूद्र कहलाते

हैं। कुछ व्यक्ति हैं कि आय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति आय दान करते हैं। वे वैश्य कहाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो न्याय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति न्याय दान कर देते हैं। वे क्षत्रिय कहाते हैं। और कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो अध्याय का सवन करते हैं और राष्ट्र के प्रति अध्याय दान करते हैं। वे ब्राह्मण कहाते हैं। अर्थात् शूद्र अयदान करके, वैश्य आय दान करके, क्षत्रिय न्याय दान करके और ब्राह्मण अध्याय दान करके राष्ट्र, समाज और लोक को समृद्ध और व्यवस्थित बनाते हैं।

महादान :

शूद्र अय दान से समाज को गति देता है। अय का अर्थ ही गति है। यह दान कम महत्व का नहीं है। राष्ट्र जिसके कारण गतिशील होता है, चलता है, वह दान भी महत्वपूर्ण है।

वैश्य आय दान से समाज को स्थिति प्रदान करता है। बिना स्थिति के गति असम्भव है। व्यक्ति अथवा समाज की स्थिति आय के आश्रित है और इसका दान करके वह पुण्य का भागी बनता है।

क्षत्रिय न्याय दान से समाज को कृति प्रदान करता है। जब व्यक्ति-व्यक्ति को विश्वास हो गया कि हमें अपनी कृति का अवश्य न्याय मिलेगा, तो व्यक्ति हो अथवा समाज हो वह कृति में जुट जाता है। यह न्याय दान और भी महत्व पूर्ण है। अतः कृति के बिना स्थिति असंभव है और स्थिति के बिना गति असंभव है।

सब का आधार और महा दान :

ब्राह्मण अध्याय दान से समाज को मति प्रदान करता है। यह दान सर्वोपरि है। "सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म-दानं विशिष्यते"। सभी दानों में ब्रह्मदा, विद्यादान, अध्याय दान विशिष्ट है। इसी अध्याय दान से राष्ट्र की मति बनती है। राष्ट्र का मस्तिष्क बनता है। जब राष्ट्र की मति शुद्ध है, तो कृति में क्या कमी रहेगी ? जब राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति कृति में जुटा है, तो राष्ट्र की स्थिति और गति में कहां सन्देह रह जायगा।

"न समाप्त होने वाली सम्पत्ति" :

अय, आय, न्याय और स्वाध्याय में से स्वाध्याय ऐसी संपत्ति है कि चाहे जितनी व्यय करो, कभी समाप्त नहीं होती। वह व्यय करने से उत्तरोत्तर बड़ती ही है। वैश्य की आय यदि व्यय की जाय तो वो समाप्त हो जाएगी। क्षत्रिय का न्याय भी न्याय प्राप्त व्यक्ति के मिलने के साथ समाप्त हो जाता है। परन्तु ब्राह्मण का अध्याय जिसको दिया जायगा, उसके पास पहुंच कर भी वृद्धि को प्राप्त होगा, स्वयं ब्राह्मण के पास व्यय करने से बढ़ेगा ही इसलिए स्वाध्याय महादान है। क्योंकि वानप्रस्थ में पहुँच कर द्विज मात्र अध्याय दान करता है। अतः इस की तय्यारी स्वाध्याय द्वारा ब्राह्मणेतर वर्णों को भी करनी है, जिससे वानप्रस्थ में स्वाध्याय दान करके ब्राह्मण बनें। तत्पश्चात् संन्यास के अधिकारी हों। अतः स्वाध्याय महादान है।

महर्षि का महत्व

॥

सुनना :

महर्षि ने आर्य समाज के तृतीय उद्देश्य में आर्यों का परम धर्म बताते हुए वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना, चार बातें लिखी हैं। महर्षि के इस उद्देश्य में एक विशेषता है, जो अन्य आचार्यों के विधान में नहीं है। अन्य आचार्यों ने स्वाध्याय और प्रवचन पर ही बल दिया है। भगवान् याज्ञवल्क्य इन्हीं दो को अत्यन्त प्रिय वस्तु मानते हैं। "प्रिय स्वाध्याय प्रवचेन भवतः" इसी प्रकार उपनिषद् का ऋषि तैत्तिरीय उपनिषद् में नवस्नातक को अन्तिम उपदेश देते समय स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करना ही विहित करता है। "स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्"

स्वाध्याय में सद्ग्रन्थों का अध्ययन (पढना) और प्रवचन में महर्षि की तीन बातें, वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनाना तो समाविष्ट हो जाते हैं, परन्तु एक विधि सुनना धर्म का समावेश नहीं हो पाता। बस, ऋषि के तृतीय उद्देश्य की यही विशेषता है कि जहाँ वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनाना परम धर्म है, वहाँ सुनना भी परम धर्म है।

बहु श्रुत :

मेरा कदापि यह आशय नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने इसे सर्वथा छोड़ दिया या इसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया, नहीं कदापि नहीं। ऐसा कहना तो अपनी अनभिज्ञता और उन आचार्यों के प्रति अनादर व्यक्त करना होगा। मेरे कहने का यही आशय है कि उन्होंने स्वाध्याय और प्रवचन के साथ इसे नहीं रखा। बस, महर्षि की यह विशेषता है कि उन्होंने सुनने को भी स्वाध्याय और प्रवचन के साथ ग्रथित कर दिया, अर्थात् जहाँ पढ़ना-पढ़ाना और सुनाना परम धर्म था, उसमें "सुनने" को भी परम धर्म बना दिया। यदि प्राचीन आचार्यों ने कहीं भी इसका महत्त्व नहीं दर्शाया होता, तो बहुश्रुत शब्द का निर्माण ही कैसे हुआ होता, और महर्षि ही इसे कहां से ले पाते। किसी को बहुश्रुत विशेषण से अलंकृत करना उसे अत्यन्त गौरवान्वित करना है। जहाँ बहुपठित विशेषण गौरव का सूचक है, वहां बहुश्रुत विशेषण और भी गौरवास्पद है।

शुश्रूषाः शूद्र बहु पठित तो क्या पठित भी नहीं हो सकता लेकिन बहुश्रुत हो सकता है। उसका यह गुण समाज में उसकी

प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त है। भगवान् मनु द्वारा शूद्र के लिए विहित एक मात्र कर्त्तव्य में सुनना परम धर्म बताया गया है। वहाँ "एवं" का प्रयोग करके, तो मानो उसके एक मात्र धर्म की घाषणा कर दी है। "एकमेव तू शूद्रस्य प्रभुकर्म समादिशत्। ऐतषाम् एवं वर्णनां शुश्रूषामन सूयया:" शूद्र का एक ही महान् कर्म है कि वह अन्य वर्णियों की शुश्रूषा करे। इस शुश्रूषा शब्द में ही कमाल है कि वह सेवा तो करे परन्तु सुनना न छोड़े। वह ब्राह्मण के पास रह कर उसकी सेवा तो करे परन्तु उससे वेदादि सच्छास्त्रों का सुनना न छोड़े। वह क्षत्रिय योद्धा की सेवा में रहे। परन्तु उसका सुनना न छूटे। वह वैश्य की सेवा में रहे परन्तु वेद सुनना न छोड़े। इस प्रकार श्रवण पूर्वक सेवा करते-करते बहुतश्रुत बन जाए और समाज में आदर का पात्र बने। इस लिए शूद्र वह नहीं जो सुनता न हो, परन्तु सुने अवश्य। अत: महर्षि के तृतीय उद्देश्य में सुनना परम धर्म लिखना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह ठीक है कि ब्राह्मण के धर्म अध्यापनम् ध्यायनम् का तो समावेश इस उद्देश्य में हो गया, परन्तु शूद्र के धर्म का "सुनना" का समावेश न होता, तो यह उद्देश्य अपूर्ण रहता। दयालु दयानन्द शूद्र को कैसे भुला सकते थे। इसलिए उसका धर्म सुनना, जो सभी के लिए ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, आर्य मात्र के लिए परम धर्म है, समाविष्ट कर दिया। अन्यथा शूद्र के लिए इस उद्देश्य में कोई स्थान न रहने से, पूर्वाचार्यों की भाँति दयानन्द भी उसी कोटि में आ जाते और उनकी यह स्थापना कि मनुष्य को वेदाधिकार है, उनके उद्देश्यों से प्रमाणित न हो पाती।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन :

श्रवण-मनन-निदिध्यासन तत्व त्रय में श्रवण का स्थान सर्व प्रथम है। "सुनना" सर्वोपरि है। सुनने के पश्चात ही मनन और निदिध्यासन होगा। स्वयं भगवती श्रुति ने अपनी अथर्व ऋचा में इसका वर्णन भक्त के मुख से मुखरित कराया है कि "मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।" मयि श्रुतम् मेरा सुनना, ह्यायि एव अस्तु, मुझ में स्थान बनाए। स्थान वनाए। प्रतिष्ठित हो जाए। ठहर जाए। स्था गतिनिवृत्तौ। स्था धातु गति निरोध के अर्थ में प्रयुक्त होती। सुना हुआ चल न दे, वह मुझ में स्थित हो जाए। स्थित तभी होगा, जब मनन और निदिध्यासन होगा। मनन और निदिध्यासन तभी होगा जब सुनना होगा। अतः महर्षि ने इस श्रवण की महत्ता को समझा था, तभी वेदाज्ञा श्रुतम् को भी अपने उद्देश्य में समाविष्ट कर लिया। सुनना-सुनाना परम धर्म है।

श्रवण (सुनना) से ही श्रवण (कान) और श्रुति की सार्थकता है। यदि महर्षि ने आर्य समाज के तृतीय उद्देश्य में सुनना परम धर्म न लिखा होता, तो शेष तीनों परम धर्म वाणी का विषय ही रहते। व्यक्ति का पढ़ना-पढ़ाना और सुनाना वाणी तक सीमित रहता। सुनना आते ही श्रवण (कान) भी सार्थक हुए। वाणी का पढ़ाना और सुनाना भी तभी सार्थक होता है, जब सामने वाला सुनना परम धर्म समझता है। यदि वह सुनना को परम धर्म न माने तो आपका पढ़ाना और सुनाना धर्म पूर्ण न हो सके, अर्थात् प्रवचन न होता। साथ ही जो व्यक्ति इस परम धर्म का स्वयं आचरण कर रहा है, वह पढ़ना, पढ़ाना और सुनाना तो

कर पाता, सुनना परम धर्म न होने से उसके कानों का क्या मूल्य रहता ? जिस व्यक्ति के पास सुनना श्रवणशक्ति नहीं, अर्थात् जन्म-बधिर है, वह गूँगा अवश्य है। इसलिए स्वाध्याय और प्रवचन से भी प्रमुख स्थान सुनने का है। कोई भी बात वाणी का विषय तभी बनेगी जब वह श्रवण का विषय बनेगी। वहाँ मनुष्य योनि की सार्थकता वाणी में है, यहाँ वाणी की सार्थकता श्रवण में निहित है। सुनने में निहित है।

वेदों की श्रुति संज्ञा इसी लिए पड़ी कि सर्व प्रथम यह ज्ञान श्रवण का विषय बना। आदि ऋषियों ने, जिनकी आत्मा में इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ था, जब उन्होंने इसका उच्चारण किया तो, अन्यों ने सुनकर ही इसे जाना। इसी लिए इसका नाम श्रुति पड़ गया। नवजात शिशु भी सुन-सुन कर ही ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए सुनना परम धर्म लिखकर महर्षि ने अद्वितीय कार्य किया है।

सुनने का कितना महत्व है, यह आप इस बात से जान सकते हैं कि महाभारतान्तर्गत नारद-युधिष्ठिर संवाद में जो कच्चिद् अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें नारद ने बराबर कच्चिद्-कच्चिद् कहकर प्रश्नों की झड़ी लगा दी है, उनमें यदि कुछ प्रश्न राज्य से सम्बन्धित हैं। धर्म सम्बन्धित हैं, तो वहाँ कुछ प्रश्न स्वयं युधिष्ठिर के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित हैं। वह एक श्लोक में वेद, धन, पत्नी और श्रुत की सफलता के बारे में प्रश्न करता है कि हे राजन्! "कच्चिते सफला वेदाः। कच्चिते सफलं धनम्। कच्चिते सफ़ला दाराः। कच्चिते सफलं श्रुतम्।" क्या

कोई ऐसा कार्य न करे जिससे बड़ों का अपमान या अनादर व्यक्त होता हो। पूज्यों के प्रति अनुराग का नाम ही भक्ति है। उनकी आज्ञा पालन में सदा तत्पर रहे। महान् विपत्ति ही क्यों न आ जाए परन्तु गुरुजनों, और पूज्यों की आज्ञा का उल्लंघन न करे। देव और पितरों के तुल्य गुणों से युक्त हो। अपने को विद्वानों देव और गुरुजनों के लिए, माता-पिता पितरों तथा वानप्रस्थ तपस्वियों के लिए समर्पित कर दे। कदाचित् गुरुजन हितार्थ ताड़ना भी करें अथवा आदेश देना भी छोड दें, तो उस पर रोष न करे अपितु उसे अपना दुर्भाग्य समझकर गुरुजनों के प्रति गद्गद् वाणी, और 'साश्रुनेत्र' होकर प्रार्थी हों कि आपने अपनी कृपा का हाथ क्यों हटा लिया, जो हम पुत्रों को आदेश नहीं देते। पिता दशरथ द्वारा वनगमन का स्वयं आदेश न देने से राम अत्यन्त दुःखी हुए थे। यह उनकी पितृ-भक्ति थी। दयानन्द अपने देह पर लगी चोट का स्मरण कर साश्रुनेत्र होकर गद्गद् वाणी से गुरु जी को याद किया करते थे। यही उनकी देव-भक्ति थी।

भक्त की पहचान सेवा है। जहां भक्त गुरुजनों की सेवा में अपना सौभाग्य समझे, वहाँ गुरुजन भी उसी से सेवा लेना चाहें। भक्त सेवा के लिए लालायित हो और गुरुजन सेवा लेना चाहें, तब समझें कि अब मेरा भाग्य उदय हुआ है। भक्त भक्ति से ही भाग्यशाली बनता है। भक्ति और भाग्य एक ही "भज सेवायाम्" धातु से बनते हैं। भक्त वह है, जो सेवाशील हो। भाग्य वह है जो पूज्यों की सेवा से मिला हो। "सेवा धर्म परम गहनो

योगिनामप्यगम्यः" कह कर जिसे योगियों के लिए भी अगम्य बताया है, वह सेवाभाव आ जाता है।

सौम्यता :

हारीत ने सौम्यता को तृतीयशील कहा है। शीलवान् व्यक्ति की पहचान् सौम्यता है। वह सोमवत् सब का प्यारा हो। उसे देखकर सभी की आँखें तृप्त हों, मन मुदित हो, हृदय आह्लादित हो और शरीर पुलकित हो जाएँ, गुरुजन उसे आशीर्वाद देने के लिए आतुर हों। वह उनका प्यारा और दुलारा हो। जहाँ चला जाएँ अपने दर्शन मात्र से सबको आनन्दित कर दे। अत्यन्त विनयी और नम्र हो।

अपरोपतापिता :

चतुर्थ शील का उल्लेख करते हुए कहा है, शीलवान् व्यक्ति की जो पहचान बताई है, जिससे वह महान् और सबका पूज्य बन सकता है, सर्वमित्र और अजात् शत्रु बन जाता है, वह गुण है। अ-परोतापिता। दूसरों को ताप न पहुँचाना। उपताप कहते हैं, पीड़ा को, दुःख को, दर्द को, शोक को, संताप को। वह अपनों को तो क्या, जो पराये भी हैं, उनको न पीड़ा पहुँचाता है, न दुःख, न सन्ताप। यह उसके स्वभाव में आ जाता है। परोपतापिता से सर्वथा दूर। सर्वथा अपरोपतापिता। इस शील के आते ही उसमें अगला शील अनसूयता आ जाती है।

अनसूयता :

वह शील जो बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी दुर्लभ है। असूया-शून्य व्यक्ति के दर्शन दुर्लभ ही होते हैं। असूया दोष से ग्रसित

व्यक्ति दूसरों के गुणों को कभी नहीं सहता। व्यर्थ ही दूसरों के गुणों में भी दोष का आविष्कार कर लेता है। उसे तो भ्रातृ भक्त भरत के राम की पादुकाएँ लाने में भी यही दोष नज़र आता है कि जिन पादुकाओं से राम जंगल के काँटों से रक्षाकर सकते थे, वह भी छीन लाया और काँटे चुभने के लिए नग्नपाद कर आया। दूसरे के गुण में दोषारोपण करना ही चातुर्य समझता है। सर्वथा असहिष्णु दूसरे की गुण समृद्धि को देखकर उद्दण्डता के कारण न सहना असूया है। सदा दोष का वर्णन करते रहना। क्रोध करना, अन्यों की गुण प्रशंसा सुनकर खीजना, डाह करना। यह सभी बातें असूया कहलाती हैं। शीलवान् व्यक्ति असूया को पास नहीं फटकने देता। सर्वथा अनसूया गुण युक्त व्यक्ति गुणियों के गुण को मारता नहीं, छोटे गुणों की भी स्तुति करता रहता है। "परगुण परमाणून् पर्वतिकृत्य चित्यम्" स्वभाव बना लेता है। यदि किसी में दोष भी हों, तो न कान देता है, न ध्यान देता है, और न जुबान हिलाता है। इस शील को अनसूया कहते हैं। "न गुणान गुणिनो हन्ति। स्तौति मन्दगुणानपि।" "नान्य दोषेषुरमते सानसूया प्रकीर्तिता।" नारद की इस स्वर्णिम उक्ति में "शील वृत्त-फलं श्रुतम्।" सुनने के दो महान् फल हैं और-वृत। यह सुनना धर्म शूद्र का भी है। इससे जहाँ उसे ब्रह्मण्यता आदि शील प्राप्त होंगे, वहाँ अनसूया भी प्राप्त होगी। यह वह धर्म है, जिसे शूद्र को भी धारण करना है। इसके बिना तो यह शुश्रूषा नाम धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। भगवान् मनुने शुश्रूषा का विशेषण अनसूया लिखा है। "एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां एत शश्रूषासनसूयया।" इस शील के बिना अन्य

श ल नहीं आ सकते। जब अनसूया युक्य शूश्रूषा आती है, तभी ब्रह्मण्यता, भक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता, आदि पूर्व शीलों की सिद्धि और मृदुता आदि शीलों की भी उपलब्धि होती है।

मृदुता :

मृदुता का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है— "मृदोर्भावः मृदुता।" कोमलता का भाव। अतीक्ष्ण होना। मृदु व्यक्ति सर्वदा सबका प्रिय होता है। वह कहीं भी हानि नहीं उठाता। बड़ी से बड़ी आपत्तियें भी उसे कुछ नहीं कर पातीं। नदी में बाढ़ आने पर किनारे के सीधे खड़े वृक्ष गिर जाते हैं, ढह जाते हैं। वह घास जो अत्यन्त मृदु होती है तूफान आने पर नम्रीभूत हो जाती है। बाढ़ के शान्त होते ही वह फिर अपना सिर उन्नत करके लहलहाने लगती है।

मृदुताशील में एक और भी विशेषता रहती है कि उसे गुरुजन अपने गुणों के अनुरूप ढाल लेते हैं। अथवा वह मृदुव्यक्ति ही अपने को स्वयं गुरुजनों के साँचे में ढाल लेता है। मृदुता की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें गुणाधान करते हुए कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। मृदुता-गुण युक्त व्यक्ति को सर्वगुण सम्पन्न बना देती है।

अपारुष्यम् :

छठा और सातवाँ शील मृदुता और अपारुष्यम्, एक ही गुण जँचते है; परन्तु अन्तर है। मृदुता उस कोमलता को कहते हैं, जो हृदय और मन से उठती है। परन्तु अपारुष्यम् वह कोमलता है, जो वाणी में समा गई हो। परुष कहते हैं निष्ठुर वचन

तुम्हारा वेदाध्ययन सफल है ? क्या तुम्हारा धन सफल है ? क्या तुम्हारी पत्नी सफल है ? और अन्तिम प्रश्न यह था कि ऐ राजन् ! यह भी बताओ कि क्या तुम्हारा श्रुत (सुनना) सफल है ? सुनना भी कोई फल देता है वा नहीं ? इस पर युधिष्ठिर महाराज ने नारद से यह पूछा, "भगवन् ! मुझे इन उक्त धर्मों के फल का ज्ञान नहीं। यदि इनके फलों का परिगणन कर दें, तो मैं बता सकता हूँ कि ये फल मुझे प्राप्त हैं वा नहीं।" इस पर नारद ने फलों का परिगणन कराते हुए कहा है, "देखो युधिष्ठिर ! "अग्नि होत्र फला वेदाः। दत्त भुक्त फलं धनम।" "रति पुत्र फला दाराः शीलवृत्त फलं श्रुतम्।" वेदाध्ययन का फल यज्ञ के मूल रहस्यों को जानना है। धन का फल दान और भोग है। पत्नी का फल रति-सुख और पुत्र लाभ है। सुनने का फल शील और वृत्त है। इस प्रसंग में हमारे लेख का विषय "श्रुतम्" (सुनना) है, जिसके दो फल शील और वृत्त बताए हैं। यह दोनों ही वह महाफल हैं, जिनमें सभी फल अन्तर्निहित हैं। मनुष्य की मनुष्यता इन्हीं पर आधारित है। आर्य्य का आर्यत्व इन्हीं दो तत्वों पर आधारित है, जिन में यह दो तत्व, शील और वृत्त हैं, वे आर्य हैं। तो सुनने के ये दो महाफल हैं–शील और वृत्त। "शीलवृत्त फलं श्रुतम।" महर्षि दयानन्द द्वारा उद्दिष्ट परम धर्म चतुष्टय में से व्यक्ति एक "सुनना" का ही आचरण करे, तो वह आर्य बन जाता है। वह शील और वृत्त से युक्त हो जाता है। शील वह सम्पत्ति है, जिसके रहने से सब गुण आ जाते हैं और जिसके जाते ही धर्म, सत्य, वृत्त और श्री अपना डेरा उठा लेते हैं। अर्थात् शील के जाते ही व्यक्ति अधर्मात्मा, असत्यवादी और वृत्त हीन और श्री हीन हो जाता है।

महाभारत में प्रह्लाद-इन्द्र उपाख्यान में यही दिखाया है कि इन्द्र ने प्रह्लाद से उनका जब शील मांग लिया और प्रह्लाद के तथास्तु कहते ही शील ने प्रह्लाद के शरीर से उत्क्रमण कर इन्द्र के शरीर में प्रवेश किया, तो तत्काल एक अन्य दिव्य तेज उनके देह से निकल कर प्रयाण करने लगा। प्रह्लाद ने मार्ग रोक कर पूछा, ',तुम कौन हो, जो मुझे छोड़ कर जा रहे हो ?" उस समय तेजोमय दिव्य व्यक्ति ने कहा "मुझे धर्म कहते हैं। मैं अब यहां नहीं रह सकता। मेरा ठिकाना वही होगा, जहाँ शील का निवास होगा, मुझे उसका अनुकरण करना है· यह कह कर वह इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट, हो गया। प्रह्लाद खिन्न मनस् ही चिन्तित थे। सहसा क्या देखते हैं कि एक अन्य तेजोंमय विभूति उनके देह का परित्याग कर बाहर निकली है। प्रह्लाद उसे जाते देख पूछ बैठ, "महाभाग ! तुम कौन हो? कहाँ जा रहे हो? तुमने मेरा परित्याग क्यों किया? वह बोला "प्रह्लाद ! मुझे सत्य कहते हैं । मैं अब यहाँ न रह सकूंगा। मेरा वहीं निवास है, जहाँ शील और धर्म रहते हैं। तुमने शील और धर्म का परित्याग कर दिया है। अब तो मैं वहीं जाऊंगा।" यह कह इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गया। प्रह्लाद को यह क्या पता था कि शील त्याग से यह सब-कुछ परिणाम होगा; धर्म और सत्य भी छोड़ जाएँगे। सोच करके पश्चात्ताप करने ही लगे थे कि देखते क्या हैं कि उनके शरीर से मानो प्राणों को कोई खींच रहा है। मानो वे अभी निष्प्राण हो जाएँगे। पता चला कि वृत्त नाम का तत्व मूर्त रूप धारण करके निकल गया। प्रह्लाद ने पीछा किया और कहा, "महाभाग ! तुम तो मेरा त्याग न करो। मेरा मरण हो जाएगा। जिसका

वृत्त चला गया, उसका सब कुछ चला जाता है।" वृत्त से मरा हुआ व्यक्ति मरा ही समझा जाता है। "वृत्तस्तु हतोहतः" "महाभाग! मेरा कहा मानो। रुक जाओ और मेरा परित्याग न करो।" वृत्त ने झटका दिया और यह जा और वह जा। प्रह्लाद को केवल यह सुनाई दिया, "राजन्! मैं वहीं जा रहा हूँ, जहाँ शील, धर्म और सत्य रहते हैं। अभी यह बात पूरी भी न हो पायी थी कि एक अत्यन्त रूपवती देवी प्रह्लाद के शरीर से निकलकर अलग खड़ी हो गयी, और प्रह्लाद कान्ति हीन और श्रीहीन हो गये। उसे जाते देख प्रह्लाद ने सिर धुन लिया। बहुत पैर पटके और पुकार-पुकार कर कहने लगे, "तुमने मुझ क्यों त्याग दिया?" तो एक ही ध्वनि सुनाई दी, "महाभाग प्रह्लाद! मैंने तुम्हारा वरण इसलिए किया था कि तुममें शील था, धर्म था, सत्य था और वृत्त प्रतिष्ठित था। अब जब तुमने उन सबका परित्याग कर दिया है तो मैं क्यों कर रह सकती हूँ? मैं भी वहीं जाऊँगी।" यह कह कर उसने तत्काल इन्द्र के गले में माला पहना दी और उनका वरण कर लिया। जिस शील के उठ जाने से धर्म, सत्य, वृत्त और श्री ने प्रह्लाद को त्याग दिया और जिस शील के जम जाने से धर्म, सत्य वृत्त और श्री ने इन्द्र का वरण किया, वह शील और वृत्त जिसके महाफल हैं, ऐसे "सुनना," धर्म का परित्याग करना कितना अपराध है। इसलिए नारद का यह महावाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है: "शील वृत्त फलं श्रुतम्।" सुनने का कितना महत्त्व है। इसलिए महर्षि ने बताया उद्देश्य में जहाँ वेदों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनाना को परम धर्म बताया है, वहाँ सुनने को भी परम धर्म बताया।

शेष त्रय परम धर्म रूप धर्म के पालन का फल होगा। वह हम स्वाध्याय महिमा में दिखा चुके हैं, यहाँ सुनने रूप परम धर्म का क्या फल है, यह दिखाया कि व्यक्ति शील और वृत्तवान् हो जाता है। वह शील कितने प्रकार का होता है यह भी दिखाते हैं।

हारीतस्मृति में हारीत लिखते हैं, "तदाह हारीतः। शीलं ब्रह्मण्यतादि रुपम्, । ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्यम् मैत्रता, प्रियवादित्वम् कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधशीलम्"। यह तेरह प्रकार का शील है।

ब्रह्मण्यता :

शीलों में प्रथमशील ब्रह्मण्यता है। शीलवान् व्यक्ति की पहचान है कि वह पवित्र ज्ञान के लिए प्रयत्नशील हो कि उसने आज कौनसा नया ज्ञान अर्जित किया है, उसके ज्ञान में नयी वृद्धि हुई और उसने अन्यों के ज्ञान में वृद्धि की।

ब्रह्मण्यता का एक आशय यह भी है कि वह ब्राह्मणों के प्रति मैत्री भाव रखे। उनसे अपने को सम्बन्धित रखे, और उनके धर्म को अपने आचरण में लाये। धार्मिक, सज्जन और महीपति बनने का प्रयत्न करें। साथ ही आस्तिक भाव रखे, सदैव परमात्मा के ध्यान और भक्ति में रहे।

देवपितृ भक्तता :

शील युक्त व्यक्ति की दूसरी पहचान है कि देवों और पितरों के प्रति भक्तिभाव रखें। उनकी सेवा करे। भूलकर भी

को। निष्ठुर और कठोर वचन की भावना को पारुष्य कहते हैं। उससे रहित होना अपारुष्य है।

परुष वाक् व्यक्ति की जिह्वा पर वह विष होता है, जिसमें बुझकर निकला हुआ प्रत्येक वचन अगले के मर्म को भेद देता है।

परेषां देश–जाति–कुल–विद्या–शिल्प–रूप–वृत्याचार–परिच्छद-शरीर कर्म जीवितां प्रत्यक्षदोषवचनम् पारुष्यम् इति वदन्ति।

आर्यों के देश, जाति आदि का नाम लेकर भर्त्सना करना, परुष वचन कहना ही पारुष्य भाव है। कर्ण और शल्य के परस्पर वाद में एक दूसरे पर इसी प्रकार की कीचड़ उछाली गई थी। कर्ण कहता था, "शल्य मैं जानता हूं कि तुम जिस देश के राजा हो वहाँ के लोग कितने असभ्य, और आवारा होते हैं।" शल्य कहता था, "कर्ण मैं जानता हूँ कि तुम किस कुल से हो? तुम्हारे जन्म का भी पता है? तुम कानीन (हराम के) पुत्र हो। इत्यादि।" जाति, कुल, रूप, वृत्ति, आचार, पहरावा, आदि के कारण किसी पर दोषारोपण करना परुष वचन ही पारुष्य है। जो इससे हीन होता है वह अपारुष्य शील से युक्त होता है।

शिशुपाल ने श्री कृष्ण को जो सौ गालियाँ दी थीं, वह कोई माँ, बहन, बेटी की गालियां थीं? वहाँ तो यही श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न जाति, कुल, विद्या, आदि को लेकर परुष वचन का ही प्रयोग किया था। बस, इसका जिसमें अभाव होता है, वह अतिशय शीलवान् व्यक्ति कहलाता है। जब व्यक्ति में ब्रह्मण्यता, अनसूयता, मृदुता और अपारुष्य शील आ जाते हैं, तब मैत्रता

नामक शील का उदय होता है। जिसमें असूया नहीं, उसके अन्दर बाहर मृदुता होती है, तथा वाणी में माधुर्य आ जाता है। तब वह मैत्री शील से अलंकृत हो जाता है।

मैत्रता :

वेद में भक्त की कामना है, "मित्रस्याहंचक्षुषा सर्वाणि भुतानि-समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।" मैं भूतमात्र को मित्र दृष्टि से देखू और सभी प्राणी मुझे मित्र दृष्टि से देखें। हम सभी परस्पर मैत्रीभाव से एक दूसरे को देखें। इसी बात को श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :— "अद्वैष्टा सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारो सम सुखदुःख क्षमी।" जब व्यक्ति सर्व प्राणियों से द्वेष त्याग कर देता है, तब वह सबका मित्र होता है। फिर तो दोनों ओर से स्नेह प्रवाह बहने लगता है। वह स्नेह कभी तो आँखों में अश्रु का रूप-धारण कर लेता है और कभी वाणी में गद्गद् गिरा का रूप धारण कर बहने लगता है। वह सब का मान और सब उसका मान करने लगते हैं। "मिनोति मानं करोति इति मित्रः"। जो अपने से छोटे हों उनके प्रति कृपालु हो जाता है। मैत्रताशील के कारण ही वह सर्वप्रिय बन जाता है। नीतिकार ने क्या ही अच्छा कहा है: "केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्य क्षर द्वयम्। आपदां च परित्राणं शोक संताप-भेषजम्।" यह अक्षरद्वय से निष्पन्नमित्र शब्द का किसने निर्माण किया है? जो आपत्तियों से परित्राण करने वाला और शोक और संताप की औषध है।

प्रियवादित्वम् :

व्यक्ति में उपर्युक्त यह सभी शील सुनने से आते हैं। इनमें जहाँ व्यक्ति में मृदुता, अपारुष्य, और मैत्रता आ जाते हैं, तब एक अगलाशील "प्रियवादित्वम्" (प्रिय बोलना) भी आ जाता है। बहुश्रुत का एक यहभी गुण है। बिदुर ने कहा है कि व्यक्ति सत्य और प्रिय बोले। ऐसा सत्य न बोले, जो किसी को अप्रिय लगे। "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।" अपारुष्यम् में और प्रियवादित्व शीलद्वयं में इतना अन्तर है कि परुष्य वचन वह है जो किसी में दोष है नहीं फिर भी उसका आरोप करके उसकी निन्दा व भर्त्संना करना। इससे तात्पर्य यह है कि वक्ता की वाणी में जहाँ कठोरता है, असत्य भी है, वहाँ हृदय में भी कठो-रता और ईर्ष्या है। प्रियवादित्व शील वह गुण है कि वक्ता सत्य तो कह रहा है परन्तु उसे भी प्रिय ढंग से। अन्धे को अन्धा न कहकर प्रज्ञाचक्षु कहता है। प्रियवादी व्यक्ति अनन्त पुण्यों का लाभ करता है। जो फल सहस्रों गौओं के दान का है, जो फल भूमि दाताओं के दान का है और जो फल सुवर्ण का दान करने वाले को मिलता है, वह एक अकेले प्रियवादी व्यक्ति को मिलता है। "गोसहस्र प्रदातारो, भूमिदाता एवं च। ये सुवर्ण प्रदातारस्तथा सर्वे-प्रियंवदा।"

कृतज्ञता :

शीलों में दसवाँ शील कृतज्ञता है। संसार में कृतघ्नता सब से बड़ा अपराध है। "कृतघ्नेनास्ति निष्कृति" कहकर कृतज्ञ व्यक्ति के लिए संसार में कोई प्रायश्चित नहीं बताया गया। इसलिए

सुनने के फल स्वरूप यदि एक इस कृतज्ञता मात्र शील को भी धारण कर ले, तो समझना चाहिए उसने बहुत-कुछ प्राप्त कर लिया। अतः किसी के किये उपकार को कदापि न भुलाएँ। किसी के अपने प्रति किये हुए उपकार को जानता, और स्वीकार करता है, वह सब से बड़ा कृतज्ञ है।

"कृतं उपकृतं जानाति स्वीकरोति यः सः कृतज्ञः।"

शरण्यता :

शीलों का वर्णन करते हुए महामुनि हारीत कहते हैं, शरण्यता भी एक महान्शील है। यदि शत्रु भी अपनी शरण में आए, तो उसे शरण दो। जो मित्र है, उनका तो कहना ही क्या। शरण का द्वार सदा खुला रहना चाहिए। ब्राह्मण को शर्मा इसलिए कहते हैं कि वह सब की, दीन दुःखियों की शरण बन जाता है। जिसने बहुत पढ़ और सुन कर भी शरण का द्वार बन्द कर दिये, वह देव तो क्या मनुष्य भी नहीं कहला सकते। वे तो असुर हैं। किसी को भी हेय नहीं समझना, किसी को निम्न और नीच नहीं समझना चाहिए। सब की शरण, आश्रय और ठिकाना बन जाए और धन्य कहलाए।

कारुण्य :

शीलों में जहां मृदुता, मैत्रता, कृतज्ञता, शरण्यता, आदि महत्त्व पूर्ण गुण हैं, वहाँ कारुण्य भी आवश्य शील है। करुणा नामक शील मनुष्य का महागुण है, जिससे उसकी मानवता में निखार आ जाता है। दूसरों को दुःख में, देखकर कृपा, दया और

अनुकम्पा दिखाना करुणा है और दूसरों के दु:ख को दूर करने की इच्छा करुणा है। "पर दु:खहारीच्छा कारुण्यम्।" संसार में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो निष्कारण ही किसी को पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसे भी महात्मा हैं जो निष्कारण ही अन्यों को सुख पहुँचाते हैं और उनके दर्द को अपना बना लेते हैं। ऐसे ही महान् पुरुषों के लिए अमीर ने क्या अच्छा कहा है।

"काँटा लगे किसी के तड़पते हैं हम अमीर।
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।'

करुणाशील ही सारे जहाँ का दर्द ले सकते हैं, अतः बहुश्रुत में कारुण्य नामक शील अवश्य होना चाहिए। यही उसका फल क्या कम है? शीले वृत्त फले श्रुतम्।

अब शीलों में अन्तिम और सर्व प्रमुख शील प्रशान्ति नामक गुण हैं। यदि यह शील नहीं तो सब शील व्यर्थ है।

प्रशान्ति :

यदि परिणाम शान्ति के रूप में दृष्टि गोचर हो तो समझना चाहिए कि आपका आरंभ ठीक था। हर कार्य की सफलता की कसोटी शान्ति है। प्रायः देखा गया है हर कार्य की समाप्ति पर उच्च स्वर से ओम् शाऽऽऽन्तिः शाऽऽऽन्तिः शाऽऽऽन्तिः का उद्‌घोष करते हैं, जिसका उद्देश्य है कि व्यक्ति को आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक शान्ति प्राप्त हो। जिस प्रकार सब कार्यों के अन्त में शान्ति की कामना की जाती है, तद्वत् यहाँ भी शीलों

में अन्तिम शील 'प्रशान्ति' का वर्णन करके इस बात की पुष्टि कर दी गई है कि शीलों का भी अन्तिम परिणाम 'प्रशान्ति' ही होना चाहिये। इस में लगा हुआ 'प्र' उपसर्ग शान्ति की प्रकृष्टता को सूचित करता है। जहाँ केवल शान्ति इह लोक की शान्ति अभीष्ट है, वहाँ प्रशान्ति से पारलौकिक शान्ति अभीष्ट है। प्रउपसर्ग का अर्थ प्रकर्ष, उत्कर्ष, सर्वतोभावः इत्यादि है, तो प्रशान्ति का अर्थ हुआ ऐसी शान्ति जो उत्कृष्ट हो, सबसे बढ़कर और जो शान्ति हो, वह सर्व तो भावेन हो। इतनी परिपूर्ण हो कि उसके पश्चात् अन्य की कामना न रहे। ऐसी तृप्ति कि अब और कोई इच्छा न रहे, पूर्ण तृप्त या पूर्ण काम। यहाँ प्रशान्ति का यही अर्थ है कि व्यक्ति पूर्ण शान्ति या परम शान्ति का अनुभव करे। जब व्यक्ति अपने गुरुजनों, विद्वानों की बात पर ध्यान देता है सुनता है तो उसे परम शान्ति मिलती है। सुनने और समझने से उसके जीवन में अद्वैत भावना आ जाती है, जो परम शान्ति का कारण है। द्वैत भावना परस्पर द्वेष और ईर्ष्या को जन्म देती है, जो मनुष्य के जीवन में अशान्ति पैदा कर देती है। जहाँ व्यक्ति में अपने-पराये की भावना आई कि राग-द्वेष का जन्म हुआ और उसके कारण व्यक्ति का जीवन अशान्त हो गया। इस राग-द्वेष और अपने-पराये की भावना को समाप्त करने के लिए एकत्व की 'अद्वैत' की भावना जगानी आवश्यक है। इसी लिए भगवती श्रुति ने कहा है, "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।" एकत्व की उपासना करने वाले को कोई मोह शोक नहीं रहता।

एकत्वमनुपश्यत :

एकत्व की उपासना के लिये किसी रिस्ते की तलाश करनी होगी। भगवती श्रुति ने उसे 'आत्मवाद' का नाम दिया है। यही एक रिश्ता है जिससे एक मानव दूसरे मानव को अपना समझनें लगता है। जैसे प्रान्तवादी या भाषावादी अपने प्रान्तवाले को देखकर उसे अपना समझने लगता है, भिन्न प्रान्तवाले को पराया समझता है, क्योंकि उसके प्रान्त से पृथक भी प्रान्त हैं। परन्तु आत्मवाद को आधार बनाने से पराया कोई रहता ही नहीं अपितु सभी में अपना पन दीखने लगता है। इसलिए शोक और मोह की कोई गुंजायश ही नहीं। यदि आत्मवाद की भावना स्थायी है, तो शान्ति भी स्थायी होगी। इसी आत्मवाद के महत्व को समझाते हुए किसी ने क्या ही अच्छा कहा है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलंत्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

व्यक्ति के सामने जब दो पक्ष आयें, तब कुल के हित में व्यक्ति के हित को त्याग दे। ग्राम-हित में कुल-हित को त्याग दे। जनपद के हित में ग्राम-हित को त्याग दे। राष्ट्र-हित में जनपद के हित को त्याग दे। विश्व-हित में राष्ट्र-हित को त्याग दे। और आत्म-हित में विश्व-हित को भी बलिदान कर दे। समस्त प्राणियों में आत्मानुभूति करना न छोड़े, भले ही विश्व-हित का त्याग करना पड़े। इसी बात को भगवती श्रुति ने अपने शब्दों में यूं कहा है :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वं भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

जो कोई भी व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने आत्मा में देखता है, और सभी प्राणियों में अपने आत्मा को (अपने को) देखता है, तब उसे कोई अशान्ति नहीं होती । यह कितना मूल्यवान सूत्र है । जिससे समस्त प्राणी मात्र अपने ही हो गये, कुछ भी पराया नहीं रहा । अपना-पराया समाप्त होते ही रागद्वेष की समाप्ति हो गई । रागद्वेष के समाप्त होते ही प्रशान्ति का लाभ हो गया । अपने पराये की भावना ही मनुष्य को अशान्त किए रहती है ।

अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

छुट भैय्या लोग 'यह अपना है या पराया' इस प्रकार की गिनती करते हैं, परन्तु उदार चेता व्यक्तियों की गिनती में एक के सिवाय दूसरा अङ्क ही नहीं । वह दो, तीन, चार, पाँच, गिन ही नहीं सकते । उनकी गिनती एक से आरम्भ होकर एक पर ही समाप्त हो जाती है । "एकत्वमनुपश्यतः" के लिए समस्त वसुधा ही उसका परिवार होता है । इसी एक भावना से मनुष्य प्रशान्ति परमशान्ति, शाश्वत शान्ति का लाभ करता है ।

शान्तरस का वर्णन करते हुए व्यक्ति की जो स्थिति लिखी है, वह निम्न प्रकार है :

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न रागद्वेषौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥

जिस अवस्था में न दुःख होता है न सुख होता है, न कोई चिन्ता न व्यग्रता, न रागद्वेष, न कोई किसी प्रकार की इच्छा ऐसी स्थिति को ही मुनिजनों ने शान्तरस कहा है। अन्तर्हृदय में उठने वाले भावों में जो एकरस सम प्रमाण रहता है। शीलों में अन्तिम और परम शील प्रशान्ति की प्राप्ति होती है "शील-वृत्तफलं श्रुतम्।"

शीलों की इतनी लम्बी व्याख्या स्वाध्याय प्रकरण में अनावश्यक अनुचित है।

III

अब तक जो कुछ लिख चुके है, वह निम्न है। स्वाध्याय की परम श्रम है, स्वाध्याय परम तप है, स्वाध्याय परम धर्म है। स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना चाहिए। स्वाध्याय में नागा अपराध है। स्वाध्याय क गंभीरार्थ क्या है? स्वाध्याय के अनेक फल हैं। स्वाध्याय से व्यक्ति इहलोक और परलोक के फल प्राप्त कर लेता है। अब आगे यह जानना अवशिष्ट है, कि स्वाध्याय कैसे किया जाना चाहिए। उसकी तय्यारी के लिए क्या-क्या आवश्यक है। इन सभी प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है और उनका समाधान भी आवश्यक है। आगे इन्हीं प्रश्नों का यथामति समाधान करते हैं।

वातावरण :

स्वाध्याय के लिए सर्वप्रथम वातावरण का महत्त्व है। वह जितना अच्छा होगा, स्वाध्याय भी उतना ही अच्छा होगा। वातावरण व्यक्ति के अन्तर्जगत् को प्रभावित करता है। मन पर अपना प्रभाव छोड़ता। वातावरण का सम्बन्ध देश और काल से है। स्थान की पवित्रता मन को पवित्र बनाने में सहायक होती है। एकान्त और शान्त स्थान स्वाध्याय शील व्यक्ति को ग्रन्थ में निमग्न हो कर गहन अर्थ की प्राप्ति में सहायक होता है। इसलिए कवि, साहित्यिक, सभी ऐसा स्थान खोजते हैं, जहाँ पहुँच कर व्यक्ति की ऊहा जागरित हो, मेधा विकसित हो। इसके लिए प्रकृति की गोद सर्वोत्तम है। प्रकृति से दूर रहना बुद्धि को कुण्ठित करना है। इसलिए जितना प्रकृति की गोद में रह कर अध्ययन किया जाय, उतना ही उत्तम होगा, चमत्कार पूर्ण होगा। याद रखें प्रकृति वह पुस्तक है, जिसके चप्पे-चप्पे, अणु-अणु और कण-कण पर परमात्मा द्वारा किया हुआ भाष्य अङ्कित है। वेद का स्वाध्याय करने वाले के लिए आवश्यक है कि उसके भाष्य को सम्मुख रख कर अध्ययन करता चला जाए। वर्तमान युग प्रकृति से दूर होता जा रहा है, जहाँ हम बस रहे हैं, वहाँ कृत्रिमता का साम्राज्य है। जहाँ हम अपने ही हाथों परमात्मा द्वारा किये भाष्य को मिटा चुके हैं। अतः मूल का अर्थ समझना कठिन हो रहा है। इसलिए स्वाध्याय शील व्यक्ति को चाहिए कि वह अध्ययनार्थ ग्राम और नगर से दूर चला जाए।

स्वाभाविकता के आवरण में :

स्वाध्याय के लिए स्थान का महत्त्व दर्शाते हुए तैत्तिरीय आरण्यक (२-११) में लिखा है। ब्रह्मयज्ञ करने वाले को इतनी दूर पूर्व उत्तर या उत्तर-पूर्व में कि जहाँ गाँव के घरों के छप्पर दिखाई न दें, एक पूत स्थान पर बैठना चाहिए। अपने दोनों हाथों को स्वच्छ करना चाहिए। तीन बार आचमन करना चाहिए। हाथ को जल से दो बार धोना चाहिए। दर्भ की बडी चटाई बिछाकर उस पर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन पर बैठ जाना चाहिए।

विप्र का जन्म स्थान :

स्थान का महत्त्व बताते हुए भगवती श्रुति ने यों कहा है-- 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां'। धिया विप्रोअजायत। यजुर्वेद अ० २६ विप्र के जन्म की बात कहते हुए भगवती श्रुति का कहना है कि विप्र धारणावती बुद्धि से जन्म पाता है और धारणावती बुद्धि का उद्भव "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।" पर्वतों की तलहटियों और नदियों के संगम पर होता है। अतः यह बात वेद से भी प्रमाणित हो गई कि धारणावती बुद्धि के विकास के लिए, उसके स्फुरण के लिए स्थान का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए प्राचीन-काल के आश्रमों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनका स्थान पर्वतों की उपत्यकाओं में अथवा नदियों के संगम पर होता था। आज बड़े-बड़े नगरों में भी इसकी आवश्यकता अनुभव की जाती है। तभी कहीं कृत्रिम पर्वत, कहीं कृत्रिम प्रपात और स्रोत बनाए जाते हैं। परन्तु उनमें स्वाभाविकता कहाँ ? अतः पर्वत और

नदियों को नगरों में लाने की अपेक्षा यह अधिक उचित है कि जहाँ पर्वत और नदियाँ हों, वहाँ चला जाए, जिससे मेधा का विकास हो और मेधावी जन उत्पन्न हों। अब न मेधा का विकास हो पाता है और न विप्र बन पाते हैं। इसमें स्थान भी एक कारण है। अब "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्" की जगह उपह्वरे गां फैक्ट्रीनां संगमे च गन्दी नालीनाम् का सर्वत्र बोलबाला है। ऐसी अवस्था में मेधावी की तलाश करना दुराशा मात्र है। अब तो "धिया विप्रा अजायत" की जगह "लिप्सया धूर्तो अजायत" वाली बात दीखती है। इसी बात के महत्त्व को समझ कर भगवान् मनु ने लिखा है—

"अपा समीपे नियतो नैत्यिकीं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाश्रयेत ॥ मनु०

इस में अपा समीपे और अरण्यं समा श्रयेत दोनों ही विधिएं देश का निर्देश कर रही हैं। जिसे वेद में "संगमे च नदीनां" कहा है, उसे मनुने अर्या समीपे कहा है। जिसे वेद में उपह्वरे गिरीणां कहा है, उसे मनुने अरण्यं समाश्रयेत् कहा है। इस प्रकार वातावरण के महत्त्व-को समझ कर ही उन्होंने इस ओर निर्देश किया है। इसलिए स्वाध्याय के लिए स्थान जितना भी प्राकृतिक हो, उतना ही उत्तम है। इन सभी का उद्देश्य एक ही है कि स्थान ऐसा हो, जहाँ स्वतः मन एकाग्र हो सके, चित्त की चञ्चलता मिट जाए और व्यक्ति स्वाध्याय-यज्ञ में निमग्न हो जाए। परन्तु इस सूत्र को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं कि साधन के पीछे साध्य को छोड़ दिया जाय। मुख्य और गौण का विमर्श रखना चाहिए।

मुख्य के लिए गौण को छोड़ा जा सकता है, परन्तु किसी भी अवस्था में गौण के लिए मुख्य को नहीं छोडा जा सकता। स्वाध्याय मुख्य है, देश और काल गौण है।

स्वाध्याय का काल :

वातावरण में जहाँ स्थान का महत्त्व है, वहाँ काल का भी अपना महत्त्व है। काल की दृष्टि से जो ब्राह्म मुहूर्त का महत्त्व है, वह प्रातः का नहीं और जो प्रातः का महत्त्व है, वह सायंकाल का नहीं। जो एकाग्रता प्रातःकाल आती है, वह सायंकाल नहीं और जो सायंकाल मन की स्थिति है, वह मध्याह्न और रात्रि में नहीं होती। इसलिए ब्रह्म यज्ञ का वही समय रखा गया है, जब प्रकृति में भी सन्धि समय में सन्ध्या उपयुक्त रहती है। वह सन्धि प्रकाश और अन्धकार की सन्धि है। इनकी प्रातः सायं दो बार सन्धि होती है और यही दोनों समय स्वाध्याय के लिए उपयुक्त हैं। फिर भी अपेक्षाकृत प्रातःकाल को सायंकाल से अधिक सात्विक माना जाता है। प्रातःकाल व्यक्ति "तमसो मा-ज्योतिर्गमय" का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, जब कि सायंकाल ठीक इसके विपरित होता है। अतः स्वाध्याय के लिए काल तो प्रातः ही अत्युत्तम है। मन का सात्विक और एकाग्र होना आवश्यक है। इसी लिए देश और काल की अपेक्षा है। प्रातःकाल स्वतः सिद्ध सात्विक वेला है; जब कि सायंकाल को सात्विक बनाना पड़ता है। प्रातःकाल प्रकृति के मुख से ही उसकी सात्विकता मुखरित हो रही होती है। वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, फल सभी में तो सात्विकता के दर्शन होते हैं। अणु-अणु और कण-कण में

अपूर्व उल्लास भरा होता है। यह सब समय का प्रभाव है। मनुष्य का मन प्रातःकाल जिस उल्लास का अनुभव करता है, उतना किसी अन्य समय नहीं। इसलिए स्वाध्याय प्रात.काल ही करे। इस विषय में गौण-मुख्य साधन-साध्य का अवश्य ध्यान रखे। कहीं देश और काल को मिष बनाकर स्वाध्याय ही छोड़ न बैठे ! स्वाध्याय हर अवस्था में करे। प्रातः न सही, मध्याह्न में सही। मध्याह्न में न हो सके, तो सायंकाल सही, सायंकाल न हो सके तो रात्रि को करलें, परन्तु स्वाध्याय को स्थगित न करें।

स्वाध्याय काल का निर्णय करते हुए कर्कोपाध्याय ने लिखा है, "हन्त काराच्च पूर्वं ब्रह्म यज्ञस्यावसरः। नृयज्ञोहि हन्तकारादिरास्वापात्" हन्तकार से पूर्व पूर्व स्वाध्याय का समय है। अतिथियज्ञ में ही हन्तकारे का उच्चारण करता है और अतिथियज्ञ का समय रात्रि शयन से पूर्व का है, क्योंकि अतिथि के आने का कोई निश्चित समय नहीं। वह ठहरा अ-तिथि, उसके आने का क्या ठिकाना, कब आजाए। वह सोने के समय भी आ सकता है। जिस समय भी अतिथि आये उसका सत्कार किया जाना चाहिए। क्योंकि यजमान के घर अतिथि का भूखे रहना ठीक नहीं। "नास्यानश्नन्-गृहे वसेत्।" अतिथि यज्ञ से पहले-पहले स्वाध्याय का समय है। अतिथि की प्रतीक्षा सोने से पहले तक की जा सकती है। अतः उससे पहले स्वाध्याय हो जाना चाहिए। स्वाध्याय समय में इतनी ढील देने का एकमात्र उद्देश्य भी यही है कि स्वाध्याय स्थगित न हो। इस बात का सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए, साध्य मुख्य है साधन गौण है। यहाँ स्वाध्याय साध्य है, देश और काल साधन हैं।

हाँ इतना आवश्यक है कि साधन की उत्तमता साध्य की सफलता में चार चाँद लगा देती है।

तैत्तिरीयारण्यक (२-१२) का कहना है कि यदि व्यक्ति बाहर न जा सके, तो उसे गांव में ही स्वाध्याय कर लेना चाहिए। यदि दिन में स्वाध्याय न हो सके तो रात्रि में स्वाध्याय कर लेना चाहिए। यदि बैठ कर न कर सके तो खडा होकर या लेटकर स्वाध्याय कर लेना चाहिए। शतपथकार तो लिखते हैं "यदि कोई व्यक्ति सुगन्धि तैल लगा कर शृंगार किये हुए यथेष्ट भोजन करके तृप्त हुआ-हुआ गुदगुदे बिछौने पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय कर रहा है, तो जानो वह नखाग्र पर्यन्त तप कर रहा है।'

स्वाध्याय के लिए मानसिक तैयारी :

वातावरण का अर्थ जहाँ बाह्य जगत् से, अन्तर्जगत से भी है। जहाँ देश-काल की परिशुद्धि आवश्यक है, वहाँ मन, बुद्धि, चित्त की शुद्धि भी आवश्यक है। मन की व्यग्रता खिन्नता स्वाध्याय के लिए अत्यन्त बाधा है। भगवान् मनु ने जहाँ "अपां समीपे" और "अरण्यं समा श्रयेत्" में स्थाननिर्देश किया है, "नियतो नैत्यिकीं विधिमास्थितः" में अन्तर्जगत् के पवित्र करने पर बल दिया है। अन्यत्र स्वाध्याय की सफलता के लिए "विधिना नियतः शुचिः" में भी यही बात देखनें में आती है। इसमें नैत्यिकीं विधम् और विधिना में स्वाध्याय के लिए जहाँ उत्तम विधि और नैत्यिक विधि का निर्देश है, वहाँ नियतः, आस्थितः और शुचिः में अन्तर्मन के पवित्र करने की बात कही गई है। स्वाध्याय करने वाले को इन तीन गुणों को आवश्यक धारण करना चाहिए।

नियतः :

नियतः शब्द के कई अर्थ हैं। यथा नित्यः, बद्ध, नियतेन्द्रियः, संयुक्त, निश्चितः इत्यादि। ये शब्द "नि" पूर्वक "यम" धातु से क्त प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ नियमन वा नियंत्रण है और इन्हीं में उपर्युक्त सभी अर्थ समाविष्ट हो गये हैं, अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति का हर काम नियत होना चाहिए, नित्य होना चाहिए, निश्चित होना चाहिए और यह तभी संभव है कि जब वह अपने पर नियम वा नियंत्रण रखे। उसके हर कार्य के नियतः होने का अर्थ है, स्वाध्याय का स्थान नियत हो, समय नियत हो, पाठ्य-ग्रन्थ नियत हो और उसकी विधि नियत हो, साथ ही स्वाध्याय शील व्यक्ति का मन भी नियत हो। स्थान के नियत होने से मन की एकाग्रता में सहायता मिलती है। नियत स्थान पर पहुँचते ही मस्तिष्क अपना कार्य करने लगता है। जो ऊहा अन्यत्र सुप्त थी, वह नियत स्थान पर आते ही स्फुरित हो उठी। साधक-जन कहते हैं कि स्थान के नियत कर लेने से वहाँ के कण-कण में लहर-लहर में एक ही विचार समा जाते हैं। आने वाले दिन वही विचार साधक के मन को प्रभावित करने लगते हैं, व्यक्ति का मन एकाग्र हो जाता है और अगला कार्य स्वयं होने लगता है। यही बात नियत समय के लिए कही जा सकती है। जैसे-जैसे नियत काल की घड़ी समीप आने लगती है, व्यक्ति का मन तय्यार होने लगता है, वैसे-वैसे सावधान होकर अन्य कार्यों को समेट लेता है, जिस से नियत समय में बाधा न आ जाए। उसकी मनो भूमिका तय्यार होने लगती है। वह सोचने

लगता है कि मुझे अभी अपने नित्य कर्म में जुटना है, स्वाध्याय का नियतकाल आ रहा है, तय्यार हो जाओ।

समय के नियत हो जाने का एक और लाभ होता है कि उसके कार्य में स्थिरता और नित्यता आ जाती है। इसका कारण स्पष्ट है कि जब व्यक्ति के स्वाध्याय का काल नियत हो, तो परिवार का हर छोटा बड़ा सद्स्य ध्यान रखता है कि अब इन के स्वाध्याय का समय है, इन्हें कुछ कहना अथवा छेड़ना ठीक नहीं। साथी, सहयोगी, मित्र, बन्धु-बान्धव सभी परिचित हो जाते हैं कि यह समय स्वाध्याय के लिए नियत है। अतः बजाय बाधक बनने के ये सभी साधक हो जाते हैं। इस बात की साक्षि इस्लाम की एक विधि में मिलेगी और उसका एकमात्र कारण समय का नियत होना है। उनका कोई कार्य नियत हो वा न हो, परन्तु नमाज का समय तो नियत है, निश्चित है। उसमें कोई हेर-फेर नहीं। इसका परिणाम है कि उनकी नमाज़ में कोई बाधक नहीं होता। बाधक तो क्या, साधक ही बनता है। हमने यात्रि-गाड़ियों को स्टेशन पर इसलिए रुकते देखा है कि कुछ नमाज़ी-नमाज़ पढ़ रहे हैं। अतः नमाज़ का समय नियत है, गाड़ी का नियत समय टल जाता है। गाड़ी का अनियत होना कोई नई बात नहीं। यह तो आये दिन होता ही रहता है, आज ही हो गया तो क्या अन्धेर आ गया। क्या जुम्मे की नमाज़ के समय सरकारी दफ्तरों का काम इसलिए नहीं रुक जाता कि यह उनके नमाज़ का समय है? यह है प्रभाव समय के नियत होने का अतः स्वाध्याय का समय भी नियत होना चाहिए। स्थान में

कदाचित अनियतता सह्य हो, परन्तु समय की नियतता अनिवार्य है।

ग्रन्थ नियत हो :

जहाँ स्वाध्याय का स्थान नियत हो, काल नियत हो, वहाँ पाठ्य ग्रन्थ भी नियत हों। ऐसा न हो कि कुछ पृष्ठ एक ग्रन्थ के पलटे, कुछ दूसरे के, फिर तीसरा उठा लिया। पूर्णतया पढ़ा एक भी नहीं। इससे क्या होगा कि व्यक्ति के स्वाध्याय में स्थिरता न आ पायेगी और उसका स्वाध्याय स्थायी और ठोस न होगा, जानदार न होगा। मन की चञ्चलता की भाँति उसके सिद्धान्त भी चञ्चल रहेंगे। उसने जिस ग्रन्थ को भी उठाया कि कुछ पन्ने उलट फेर कर रख दिया। जब उसने ग्रन्थ का अन्त ही सिद्ध नहीं किया, तो सिद्धान्त ही क्या निश्चित कर पायेगा। अत: स्वाध्याय के लिए ग्रन्थ भी नियत और विधि भी नियत हो। इसलिए हम स्वाध्याय शब्द का अर्थ दिखाते हुए लिख आयें हैं कि अध्याय शब्द का अर्थ वेद है, अतः स्वाध्यायशील व्यक्ति का नियत पाठ्य-ग्रन्थ वेद है। जब व्यक्ति नियत होकर नियत ग्रन्थ (अध्याय) वेद को आद्योपान्त पढ़ेगा, तभी कह सकेगा कि मेरा यह नियत सिद्धान्त है, निश्चित मत है, क्योंकि मैंने वेद का अन्त देख लिया है, मैं वेदान्त को जान पाया हूँ, सिद्धान्त समझ गया हूँ।

ग्रन्थ के नियत होने का एक और भी लाभ होता है कि व्यक्ति का ध्यान नियत ग्रन्थ के नियत विषय पर केन्द्रित होता है। नियत समय के अतिरिक्त जब जब भी समय मिलता है, तो

मन उसी का चिन्तन करने लगता है जिससे तारतम्य बना रहता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते एक ही विचार आता रहता है, चिन्तन सूत्र में काल-क्षण पिरोया जाने लगता है और नियत समय आते ही वह सूत्र कतने लगता है परन्तु यह तभी है कि नियत ग्रन्थ की कपास हाथ से न छूटे। जब तक एक ग्रन्थ को आद्योपान्त न पढ़ लें, तब तक दूसरे ग्रन्थ को हाथ न लगाएँ। इस के लिए अत्यन्त धैर्य्य की आवश्यकता है। कहीं मन उचाट न हो जाए, ऊब न जाए, बोर न हो जाए, इसलिए विधि भी नियत होनी चाहिए। इसीलिए भगवान् मनु ने लिखा है "नैत्यिकीं विधिमास्थित:।" नित्य की जाने वाली विधि में स्थित हो, दृढ़ हो। इसमें आस्थित: शब्दने नियत: के अर्थ में चमत्कार पैदा कर दिया है। नियत: व्यक्ति ही आस्थित: हो सकता है और आस्थित व्यक्ति ही, सब ओर स्थित अचञ्चल व्यक्ति ही नियत हो सकता है और आस्थित होने के लिए नैत्यिकी विधि के अनुष्ठान की आवश्यकता है। इसलिए भगवान् मनु ने लिखा "नैत्यिकीं विधिमास्थित:"।

नित्य विधि :

विधि शब्द का अर्थ है विधान, कारण। "विधति विदधाति-स्वाध्यायमिति विधि:"। जो किसी भी कार्य को विशेषतया धारण किये रहता है उसे ही, कारण, विधान अथवा विधि कहते हैं। इसीलिए हर आचरण की विधिएँ बनी हैं। स्वाध्याय की भी विधिएँ हैं। कहीं-कहीं तो वह अत्यन्त जटिल हो गई हैं और कहीं-कहीं अत्यन्त शिथिल हैं। कहीं तो हम यह लिखा हुआ पाते

हैं कि नगर वा ग्राम से दूर चला जाए, पूर्वाभिमुख हो आचमन और मार्जन करके पद्मासन पर बैठ कर अपने वाम हाथ को दक्षिण पैर पर रख कर करतल को दाहिने करतल से ढक कर और दो हाथों के बीच दर्भ को रख कर स्वाध्याय करे। और कहीं अन्यत्र लिखा पाते हैं कि यदि व्यक्ति बाहर न जा सके उसे गाँव ही में दिन या रात्रि में स्वाध्याय कर लेना चाहिए। यदि वह बैठ न सके तो खड़ा होकर या लेटे ही स्वाध्याय करले, क्योंकि स्वाध्याय करना मुख्य है, देश काल और विधिएँगौण हैं। विधि नियमों में शिथिलता इसलिए की गई है कि कोई इन्हें ही मिष बनाकर स्वाध्याय को ही स्थगित न कर बैठे। कहीं कहने लगे कि यहाँ अपां सामीप्य नहीं था, इसलिए स्वाध्याय नहीं कर सके। जल के अभाव में आचमन नहीं कर सका। बिना आचमन किये, स्वाध्याय कैसे करते ? विधि नियमों में शिथिलता लाना स्वाध्याय में सबको प्रवृत्त करना है और विधि नियमों में कठोरता लाना स्वाध्याय को परिष्कृत और परिमार्जित करने के लिए है।

विधि में केवल बाह्य आचार ही सम्मिलित नहीं, अपितु जिस ग्रन्थ का अध्ययन करें, उसका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करना विधि ही है। व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि का ज्ञान भी आवश्यक है। परन्तु गौण और मुख्य का ध्यान रखना आवश्यक है, साधन साध्य का ध्यान रखना आवश्यक है। कहीं अङ्गोपाङ्ग के मोह में आत्मा की अवहेलना न हो जाए ? व्याकरण, निरुक्त, छन्द, आदि अङ्गोपाङ्ग हैं और वेद (अध्याय) आत्मा है। यह तो सह्य हो सकता है कि शरीर में आँख न हो,

परन्तु यह सह्य नहीं कि शरीर में आत्मा ही न हो। यह तो सह्य हो सकता है कि व्यक्ति व्याकरण का पण्डित न हो, परन्तु यह कैसे सह्य हो सकता है कि व्यक्ति स्वाध्याय से शून्य हो। स्वाध्याय आवश्यक है। वह विधि पूर्वक साङ्गोपाङ्ग हो तो अत्युत्तम है।

स्वाध्याय शील व्यक्ति यह न सोचे कि मुझे इतने पृष्ठ वा इतने अध्याय समाप्त करने हैं। वह तो यह देखे कि जितना करना है, वह मनन और निदिध्यासन पूर्वक करना है, फिर उसकी मात्रा स्वल्प ही क्यों न हो। जो पढ़े, जितना पढ़े उस में तल्लीन होकर पढ़े, शब्द-शब्द में पैठने का प्रयत्न करे। इस प्रकार नित्य स्वाध्याय करने से वेद स्वयं अपना रहस्य प्रकट करने लगते हैं। अध्ययन करते हुए यह विचारना चाहिए कि इस स्थल पर अमुक शब्द ही क्यों रखा गया है। यदि इस के स्थान पर अन्य पर्य्याय-वाची शब्द रख दिया जाता, तो क्या हानि होती। व्यक्ति स्वयं इसके स्थान पर पर्याय वाची शब्द रख कर देखे तो ज्ञात होगा कि मानो उसकी आत्मा निकल गयी। इसलिए वेद के अनुक्रम, आनुपूर्वी का ध्यान रखते हुए शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर की रक्षा की गई है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना अपराध माना गया है। शाखा ग्रन्थों में ऐसा किया भी गया है। वह अपने-अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए ही किया है। परन्तु संहिता भाग में ऐसा नहीं होने दिया गया, अन्यथा इस धांधली का कहीं भी अन्त न होता। फिर तो ग्रन्थ का ही अन्त हो जाता, उसका मूल रूप ही बिगड़ जाता। इसलिए मन्त्र-मन्त्र में पैठ कर,

शब्द-शब्द में घुस कर अर्थ जानने का यत्न करना चाहिए। इसी बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

उदाहरण :

आइए हम दो पर्य्याय वाची शब्दों का विवेचन करके देखें। वे दो शब्द हैं नर और जन। ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। परन्तु गहन विचार करने से इन दोनों शब्दों का महत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाएगा। नर शब्द का अर्थ है नेता, ले चलने वाला। जब कि जन शब्द का अर्थ है, वह व्यक्ति जिस का प्रादुर्भाव हुआ है, जो जना गया है। वास्तव में दोनों ही शब्द मनुष्य अर्थ के वाचक हैं, परन्तु नर शब्द में जो ओज है वह जन शब्द में कदापि नहीं। कौन चाहेगा कि कोई उसे यह समझे कि वह तो नाम मात्र का इन्सान है, बस जैसे-तैसे जना गया और यह चोला मिल गया इत्यादि। प्रत्येक व्यक्ति नर कहलाने में गौरव अनुभव करेगा; क्योंकि नर कहलाते ही उसमें नेतृत्व का भाव संचार करने लगता है कि वह नयन की सामर्थ्य रखता है। यह शब्दों की मीमांसा का परिणाम है।

शब्द का अर्थ :

नर शब्द का अर्थ नेता है। यह कैसे जाना गया? क्या नयार्थक "नृ" धातु के प्रयोग से? नहीं, केवल इतने मात्र से नहीं। यों तो नय अर्थ वाली धातुएँ और भी हैं, जिन का अर्थ भी ले चलना है। फिर अनेक शब्दों के निर्माण की क्या आवश्यकता थी? एक ही "नय" अर्थवाली धातु से एक शब्द बना लिया

जाता, जो नेता का वाचक होता। व्यर्थ का अर्थ भार तो न ढोना पड़ता। नहीं, ऐसा समझना भूल होगी। एक अर्थ के देने वाले बहुत से शब्दों का अपना महत्त्व है। वे सभी शब्द अपने अर्थ के भिन्न-भिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हैं। जैसे यही "नर" शब्द है, जिसका अर्थ है ले जाने वाला। जो ले जाता है वह "नर" है। इसी प्रकार अग्नि शब्द है, जिसका अर्थ है कि "अग्रे नयति" अर्थात् आगे ले जाता हो वह अग्नि है। अब यह दोनों शब्द ही एक अर्थ के वाचक हो गये। दोनों का अर्थ है ले जाने वाला "नेता" फिर सोचिए कि इन दो शब्दों की क्या आवश्यकता थी ? ये दोनों शब्द नेता के भिन्न-भिन्न रूपों पर प्रकाश डालते हैं। इन दोनों नें ही नेता की व्याख्या कर दी। "अग्नि" शब्द ने कहा कि नेता वह है, जो आगे ले जाए (अग्रेनयति इति अग्नि)। पीछे हटाने वाले को नेता न कहेंगे। जो लक्ष्य की ओर न ले जा कर लक्ष्य-भ्रष्ट करादे, वह नेता नहीं हो सकता, यह नेता की व्याख्या "अग्नि" शब्द में निहित है।

अब आइए "नर" शब्द का अर्थ देखें। आगे कौन ले जा सकता है ? जो नर हो। न रमते इति नरः, जो फल में आसक्त न हो। लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए मार्ग के प्रलोभन उसे लिप्त न कर सकते हों। जो आसक्त हो गया वह क्या आगे बढ़ेगा ? वह नेता नहीं बन सकता। इसलिए "अग्नि" शब्द नेता के साध्य की घोषणा करता है, वहाँ "नर" साधन की घोषणा करता है।

नेता कौन है ? जो लक्ष्य की ओर ले चले। नेता कौन बन सकता है ? जो मार्ग के प्रलोभनों में आसक्त न हो। ले चलना साध्य है। आसक्त न होना साधन है। किस प्रकार इन दोनों शब्दों में उक्त भाव निहित है, इस का विवेचन करना ही मनन और निदिध्यासन है।

वेद से वेद का अर्थ :

जो लक्ष्य की ओर जाते हुए फलों में आसक्त नहीं होता, वही नेता है। यह भाव नर शब्द में कहाँ निहित हैं? "नृ" नये धातु का अर्थ तो ले जाना मात्र है। फिर प्रलोभन "लिप्त न होना" कहाँ से हो गया ? आइए विचार करें। नर शब्द में आये हुए दोनों अक्षर "न" और "र" पुकारपुकार कर कह रहे हैं कि ऐ नेता ! भूलकर भी 'न होना' क्या न होना ? लिप्त न होना। न का अर्थ हुआ 'न' होना, 'र' का अर्थ हुआ लिप्त। नर का अर्थ हुआ 'न लिप्त होना'। तो नेता कौन है ? जो प्रलोभनों में नहीं लिप्त होता। "न रमते इति नर"। यह अर्थ अवश्य ही नैरुक्त प्रक्रिया का आश्रय लेकर किया गया है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस अर्थ का कोई आधार नहीं। स्वयं वेद ही इसका आधार है। नर शब्द की यही व्याख्या वेद ने स्वयं की है। यजुर्वेद अध्याय चालीस मन्त्र द्वितीय में कहा है--"न कर्म लिप्यते नरे।" इसमें से कर्म शब्द को हटाकर देखिए वही अर्थ होगा, जो हमने किया है। न लिप्यते इति नरः। नहीं लिप्त करते हैं जिसे, नहीं बाँधते हैं जिसे, वही नर है। यह वेद से वेद का अर्थ हुआ।

इसी प्रकार दूसरा शब्द अग्नि लीजिए। इसके अर्थ में किसी को कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती। जो आगे ले जाए वह अग्नि है। यहाँ हम प्रसिद्ध मन्त्र ही उद्धृत करते हैं। मन्त्र है, "अग्ने ! नय सुपथा राये।" इसमें 'राये' पद लक्ष्य है, वही अग्र है। उसकी ओर जो ले जाता है, वह अग्नि है। इसमें अग्नि शब्द का निर्वचन हो गया (राये) अग्रे नय कथं ? त्वं 'अग्निरसि'। इसमें आये हुए सुपथा ने इस की और व्याख्या कर दी कि वह ऐसे पथ से ले जाता है, जिसमें कोई प्रलोभन नहीं कि आसक्त हुआ जाएँ। इन दो शब्दों की विस्तृत व्याख्या इसलिए की गई हैं कि पाठक स्वयं इस प्रकार शब्द-शब्द में प्रवेश के अभ्यासी बन जाएँ।

जन शब्द का अर्थ :

एक ही अर्थ के वाचक दो पर्यायवाची शब्दों की क्या विशेता है, यह आरम्भ में नर और जन शब्दों के अर्थों से स्पष्ट करना चाहा था। उनमें से नर शब्द की व्याख्या हो गई। वेद के नर शब्द का अर्थ वेद से दिखा दिया गया। जन शब्द का अर्थ अवशिष्ट है। यह भी वेद से स्पष्ट होगा। जन शब्द का स्थूलार्थ है कि प्रजनन द्वारा अस्तित्व में आया हुआ। उसके सामने कोई लक्ष्य नहीं, जो अविद्याग्रस्त कर्महीन जीवन व्यतीत कर रहा हो। जन शब्द की यही व्याख्या स्वयं वेद ने की है। यजुर्वेद ४०-३ में लिखा है, 'ये के चात्महनो जनाः।' यहाँ आया हुआ 'च' पद जन को नर से सर्वथा पृथक् छाँट रहा है। नर वह है जो लिप्य नहीं होता और जन वह है जो आत्महनन करता है।

सारे अध्याय में इन्हीं दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन है। नर विद्या की उपासना करते हैं, तो जन अविद्या की उपासना। नर संभूति की उपासना में लगे हैं, तो जन असंभूति की उपासना में लगे हुए हैं। नर आत्मज्ञ है, तो जन आत्महन् हैं। नर सत्य की उपासना करते हैं, तो जन हिरण्मय पात्र से ही खेलते हैं। नर निष्काम कर्म करते हैं, तो जन फलासक्त हैं। इस प्रकार वेद के इस अध्याय (वेद) का अध्ययन नर और जन शब्द को समझ लेने से होगा। मैंने यह यथामति स्वाध्याय विधि पर प्रकाश डाला है। आशा है, विज्ञ पाठक इस पद्धति का अनुसरण कर स्वाध्याय यज्ञ में प्रवृत्त होंगे।

तैत्तिरीय उपनिषद के शिक्षाध्याय के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा में जो कुछ लिखा है, उससे भी यह ज्ञात होता है कि स्वाध्याय प्रवचनकर्त्ता को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस नवम अनुवाक में "स्वाध्याय प्रवचने च" की बारह वार आवृत्ति हुई है। वहाँ हर आवृत्ति में एक न एक तत्त्व का साथ नत्थी कर दिया है, यथा :

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्याय प्रवचने च।
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
अग्निहोत्रञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
मानुषञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च।
प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।

यहाँ ऋत, सत्य, तप, दम, शम आदि गुणों को स्वाध्याय और प्रवचन के साथ जोड़ने के दो उद्देश्य हैं। प्रथम तो यह कि

ऋत, सत्य, तपादि करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करें। दूसरे यह कि स्वाध्याय और प्रवचन करते हुए ऋत, सत्य तप, शम, दमादि नियमों को जाने। जहाँ ऋत, सत्य, तप, आदि को स्वाध्याय का साधन बनाए, वहाँ स्वाध्याय का साध्य भी इन्हें ही बनाए। स्वाध्याय का फल ऋत की खोज हो, सत्य की खोज हो, इत्यादि। स्वाध्याय से ऋत नियमों को जाने, स्वाध्याय से सत्य नियमों को जाने। पठन-पाठन का एक मात्र उद्देश्य यही है कि इस विश्व में जितने भी ऋत, सत्य, तप, दम, आदि नियम हैं, उनको जाने और उनके ज्ञान से स्वाध्याय को परिष्कृत करे। सृष्टि उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि अभीद्ध तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। बस, यह स्वाध्याय का उद्देश्य हो गया कि उस से जाना जाय कि अभीद्ध तप क्या है, जिससे ऋत और सत्य पैदा हुए। पृथिवी (राष्ट्र) की धारणात्मक शक्तियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बृहत् सत्य, ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ; यह सात तत्व पृथिवी को धारण कर रहे हैं, तो स्वाध्यायशील का कर्तव्य है कि वह यह खोज करे कि पृथिवी को धारण करने वाले ऋत, सत्य, तप आदि तत्व क्या हैं ? राष्ट्र को धारण करने वाले ऋत, सत्य, तपादि क्या हैं ? सृष्टि को धारण करने वाले ऋत, सत्य, तप आदि तत्व क्या हैं ? यही बात उपर्युक्त उपनिषद् वाक्य में है। वहाँ जो हर नियम के साथ स्वाध्याय प्रवचन जुड़ा हुआ है, उसका उद्देश्य यही है कि इन नियमों का पालन करते हुए, स्वाध्याय करे और स्वाध्याय से इन नियमों को जाने।

ऋत, सत्य, तप :

ऋत, सत्य और तप का त्रिक बहुधा देखने में आता है। इन का परस्पर सम्बन्ध है। ऋत उन नियमों को कहते हैं, जो अपरिवर्तनीय हैं, नित्य है। जिनमें कोई परिवर्तन न हो सकता हो। सत्य उस कार्य को कहते हैं, जो ऋत नियमों का परिणाम हो। तप उसे कहते हैं, जो ऋत नियमों को धारण किये रहे, सन्तुलित रखे। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। प्रकृति का यह अखण्ड नियम है कि दो गैसों के मिलने से जल का निर्माण होता है। हायड्रोजन और ऑक्सीजन ठीक परिमाण में मिलीं कि जल बना। बस, इस अखण्ड नियम को ऋत कहेंगे और उस नियम के आधीन जो कार्य रूप जल बना, वह सत्य है। इस अखण्ड नियम को जो संधारित किये हुए है, उसे तप कहते हैं। तप वह सामर्थ्य है, जो ऋत नियमों का संतुलन बनाए रखता है और जो ऋत सत्य और तप का प्रयोक्ता है, वह ऋत्विज है। स्वाध्याय का उद्देश्य है कि इस ऋत, सत्य और तप के सूत्र को जो समस्त कक्षाओं में वितत है, जाने और उनका प्रयोग करे। इसी प्रकार शम दमादि तत्त्वों की स्वाध्याय से संगति करे।

स्वयं ऋषि बने :

स्वाध्याय की तय्यारी के लिए व्यक्ति को जहाँ 'नियतः, विधिमास्थित होना चाहिए, वहाँ 'शुचिः' होना चाहिए। वह अन्दर-बाहर से पवित्र हो। अन्दर-बाहर से पवित्र व्यक्ति को ही ऋषि कहते हैं। स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि वह जिस ग्रन्थ का भी स्वाध्याय करे, उसका ऋषि बन जाए। वेदों का

स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के लिए तो यह बात और भी सरल है, क्योंकि वेद के प्रत्येक मन्त्र पर ऋषि नाम का उल्लेख है। निस्सन्देह उल्लिखित नाम उन ऋषियों के हैं, जिन्होंने उन-उन मन्त्रों को प्रत्यक्ष किया है। इस नामोल्लेख के दो लाभ हैं। एक तो उन व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन है और दूसरे इतिहास की सुरक्षा है।

स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि मन्त्र पर उल्लिखित नाम को देखकर उस पर चिन्तन करे और अपनी मनो भूमिका भी वैसी ही निर्माण करे और फिर मन्त्र का विचार करे। उस घड़ी के लिए वह व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि बन जाए, द्रष्टा बन जाए। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। यदि कोई व्यक्ति ऋग्वेद के मन्त्र "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।" ऋ. १-१-१ का स्वाध्याय करना चाहे तो सर्वप्रथम जहाँ मन्त्र के देवता अग्नि, का उल्लेख पायेगा, वहाँ मन्त्र के मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः का नामोल्लेख पायेगा। अब स्वाध्यायशील व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने को विश्वामित्र का पुत्र मधुछन्दा बना ले। मन्त्र का दर्शन करने के लिए मधुछन्दा, मधुर व्यवहार वाला बनना चाहिए। वह अपने व्यवहार-व्यापार को मधुर बना ले। यह तभी सम्भव है कि जब विश्व के प्रति मैत्री भाव जगे। इस प्रकार मन्त्र-मन्त्र पर लिखे हुए ऋषि नाम का भाव मन-मस्तिष्क पर लाये, फिर देखें कि उसे मन्त्र का साक्षात्कार हुआ या नहीं।

यह बात केवल वेद मन्त्रों के स्वाध्याय में संभव है। आवश्यक

वर्तमान युग के वेद के ऋषि :

यदि वर्तमान युग में किसी व्यक्ति ने मन्त्र का साक्षात्कार किया हो, तो उस-उस मन्त्र पर उसका नामोल्लेख अवश्य होना चाहिए। यथा वर्तमान युग के द्रष्टा महर्षि दयानन्द ने "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय।" ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ मन्त्र २०

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।" यजु० २६-२।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः।" यजु० ३१-११ इत्यादि मन्त्रों का साक्षात्कार किया है, अत. इन मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का नामोल्लेख होना चाहिए। जहाँ यह उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन होगा; वहाँ यह इतिहास भी सुरक्षित रहेगा कि द्वा सुपर्णा मन्त्र ने त्रैतवाद के प्रतिपादन में कितना योग-दान दिया। "यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः" यजु० २६-२ मन्त्र ने उन सभी प्रतिबन्धों को तोड़ने में महर्षि दयानन्द का योग-दान दिया जो धर्म के ठेकेदारों ने "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्" को आधार बना कर लगा रखे थे। "ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्" मन्त्र ने तो अमोघास्त्र का काम किया, जिससे जन्मगत जात पाँत पर आधारित समाज दुर्ग पर प्रहार किया। मुक्ति से पुनरागमन को

"यस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या आदितये पुनर्दात् पितरं दृशेयं मातरञ्च॥
ऋ० म १-सू० २४ मं. १

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
सनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरञ्च॥"
ऋ० १-२४-२

वेद मूलक प्रतिपादित किया है। इस प्रकार स्वाध्यायशील व्यक्ति

यदि "यथेमां वाचं कल्याणीम्" यजु० २६-२ पर दयानन्द का नामोल्लेख पायेगा, तो सर्व प्रथम अपने को दया और आनन्द से युक्त करेगा और देखेगा कि वह भी उस मोर्चे का एक सैनिक है, जो वेदों पर एकाधिकार के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। वह भी मनुष्यमात्र के लिए वेद का द्वार खोलेगा। वह सच्चा द्रष्टा बन जाएगा। इस प्रकार मन्त्र का अध्ययन करते हुए, मन्त्रोल्लिखित ऋषि के समान अपनी मनोभूमिका बनानी चाहिए। तत्पश्चात् उस मन्त्र को पढ़िए, देखिए कि मन्त्र अपना रहस्य कैसे खोलता है।

।।।

अन्त में पाठकों के लाभार्थ कुछ ग्रन्थों की सूची दे देना आवश्यक समझता हूँ, जिससे वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुरूप ग्रन्थ का चयन कर सके। इसमें जहाँ वेद और वैदिक साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख होगा, वहाँ इतिहास और पुराण से सम्बन्धित साहित्य का भी उल्लेख होगा। मेरी इच्छा है कि पाठक वर्ष भर का स्वाध्याय-चक्र बना लें और उसके अनुरूप स्वाध्याय करें। स्वाध्याय-चक्र बनाने के लिए भी कुछ कठिनाई नहीं, पर्वों को आधार बना कर स्वाध्याय-चक्र का क्रम निर्धारित करलें, स्वाध्याय का उपक्रम श्रावणी पूर्णिमा अथवा श्रावण मास की पंचमी से होता है तो पाठक भी यहीं से अपने स्वाध्याय का आरम्भ करें। इसे कहते ही स्वाध्यायोपकर्म विधि हैं।

आप यह मान कर चलिए कि स्वाध्याय श्रावणी पूर्णिमा से करना है और उसकी समाप्ति माघ मास की पूर्णिमा को करनी है। यह छ मास का दीर्घ स्वाध्याय सत्र है। वास्तव में तो जीवन पर्यन्त ही स्वाध्याय सत्र चलते रहना चाहिए, तो आप पूर्ण वर्ष को ही स्वाध्याय सत्र समझलें। इस अवस्था में आपको कोई बाधा नहीं। आप निरन्तर स्वाध्याय करते चलिए। हाँ, कुछ विचार उन ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिए करना होगा जो इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशसी के अन्तर्गत आते हैं तो उसके लिए एक पृथक् अध्ययन-चक्र बना लीजिए और उसका आधार पर्वों को बना कर ही चलिए। तो इस प्रकार एक स्वाध्याय-चक्र और दूसरा अध्ययन-चक्र बन गया। स्वाध्याय-चक्र के अन्तर्गत तो केवल वेद का ही अध्ययन अभीष्ट है और वह अखण्ड सत्र है। दूसरा अध्ययन-चक्र खण्डशः चलेगा, जिसमें इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशसी सभी का समावेश होगा।

अध्ययन-चक्र :

अध्ययन-चक्र का भी आरम्भ आप श्रावण मास की पूर्णिमा से करें, इस पर्व से अगला पर्व श्रीकृष्ण जन्माष्टमी है। अतः आप श्रीकृष्णचन्द्र महाराज का जीवन-चरित्र (नाराशंसी) पढ़ें, तत्पश्चात् नवमी से आरम्भ कर आश्विन सुदी दशमी (विजय दशमी) पर्व तक, क्षत्रियोचित साहित्य जिससे राष्ट्र में क्षात्र शक्ति को प्रोत्साहन मिले, अध्ययन करें। उसके लिए रामायण से बढ़ कर अन्य उत्तम ग्रन्थ नहीं, अतः महाभारतान्तर्गत जय नामक इतिहास, जिसका विदुलाने अपने पुत्र संजय को सन्देश दिया था।

(इति-ह-आस) का अध्ययन करना उपर्युक्त रहेगा। विजय दशमीपर्व से अगला महत्वपूर्ण पर्व दीपावली आता है। इस समय को महर्षि दयानन्द जी के जीवन-चरित्र (नाराशंसी) पढ़ने में लगाएँ। दीपावली पर्व के उपरान्त, मकर-सक्रान्ति, वसन्त पंचमी, गणतन्त्र दिवस और महाशिवरात्रि पर्व आते हैं, तो दीपावली से शिवरात्रि तक लगभग चार मास का दीर्घ समय है। इस में महर्षि दयानन्द-कृत अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' का अध्ययन करें, जिससे सत्यासत्य के विवेक से सच्चे शिव प्राप्त कर सकें, इसी के प्रकाश में शिवरात्रि पर्व मनाएँ। शिवरात्रि पर्व से रामनवमी तक रामायण का अध्ययन करें। रामनवमी से गुरुपूर्णिमा, व्यास पूजा का महाभारतान्तर्गत 'विदुर नीति', 'भगवद्गीता', 'शान्तिपर्व', 'अनुशासन पर्व' आदि आदि। अब अवशिष्ट रहे एक मास पर्यन्त उपनिषदों का अध्ययन करें। अब आपका पुनः श्रावणी उपाकर्म आ गया। इस उपरोक्त अध्ययन-चक्र को बनाते हुए आवश्यक नहीं कि जो कुछ मैंने लिखा है क्या वह अन्तिम निर्णय है? नहीं कदापि नहीं, आप अपनी सुविधानुसार चुनाव कर सकते हैं। बीच-बीच में उपपर्व भी आते रहते हैं। यथाः सीताष्टमी, हनुमान जयंती बुद्ध जयन्ती, लेखराम तृतीय, श्रद्धानन्द बलिदान दिवस आदि आदि इन उपपर्वों पर इन महानुभावों के जीवन-चरित्र भी पढ़ें जा सकते हैं।

स्वाध्याय के लिए वेद और वैदिक साहित्य

१. ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य	महर्षि दयानन्द
२. ऋग्वेद का अवशिष्ट भाष्य	आर्य मुनि
३. यजुः संस्कार भाष्य	श्रीभगवदाचार्य
४. सामवेद भाष्य	तुलसीराम स्वामी
५. सामवेद भाष्य	आचार्य वैद्यनाथ
६. साम संस्कार भाष्य	श्री भगवदाचार्य
७. अथर्ववेद भाष्य	पं. क्षेमकरण दास
८. अथर्ववेद भाष्य	पं. सातवलेकर
९. वेद व्याख्या ग्रन्थ (१० भाग)	स्वामी विद्यानन्द 'विदेह'
१०. ऋग् यजु साम अथर्व भाष्य	पं. जयदेव चतुर्वेद भाष्यकार

वैदिक साहित्य

११. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका	महर्षि दयानन्द
१२. आर्याभिविनय	महर्षि दयानन्द
१३. वैदिक विनय (तीन भाग)	आचार्य अभयदेव
१४. वैदिक वन्दन	स्वामी ब्रह्ममुनि
१५. वैदिक प्रवचन	गंगाप्रसाद उपाध्याय
१६. वेदोद्यान के चुने हुए फूल	आचार्य प्रियव्रत
१७. वरुण की नौका	आचार्य प्रियव्रत
१८. वेद का राष्ट्र गीत	आचार्य प्रियव्रत
१९. वेदामृत	स्वा. वेदानन्द
२०. स्वाध्याय सन्दोह	"

२१. स्वाध्याय सुमन	स्वा. वेदानन्द
२२. स्वाध्याय संग्रह	"
२३. वैदिक ब्रह्मचर्य गीत	आचार्य अभयदेव
२४. ब्राह्मणकी गौ	"
२५. ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता	प्रो० बालकृष्ण
२६. वेदों का यथार्थ स्वरूप	धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड
२७. सोमसरोवर	पं. चमूपति एम. ए.
२८. जीवन-ज्योति	"
२९. वैदिक सम्पत्ति	पं. रघुनन्दन शर्मा
३०. वेद के संबंध में क्या जानो क्या भूलो	पं. बुद्धदेव विद्यालङ्कार
पञ्च यज्ञ प्रकाश	"
सन्ध्या सुमन	पं. नित्यानन्द वेदालङ्कार
सन्ध्या रहस्य	पं. चमूपति एम. ए.
सरल सन्ध्या विधि	पं. गंगाप्रसाद जी उपाध्याय
उपनिषद् समुच्चय	पं. भीमसेन
ईशादि ११ उपनिषद	श्री नारायण स्वामी
एकादशोपनिषद्	सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
ईशादि उपनिषद्	पं. सातवलेकर

जीवन-चरित्र (नाराशंसी)

योगेश्वर कृष्ण	पं. चमूपति एम-ए.
श्रीमद् दयानन्द प्रकाश	स्वा. सत्यानन्द जी
दयानन्द जीवन-चरित्र	पं. घासीराम जी
स्वामी श्रद्धानन्द	पं. सत्यदेव विद्यालङ्कार

मेरे पिता	पं. इन्द्रविद्या वाचस्पति
आर्य पथिक लेखराम	स्वामी श्रद्धानन्द
रामायण (दस भाग)	श्री पं. सातवलेकर
महाभारत मीमांसा	चिन्तामणि विनायक वैद्य
महाभारत समालोचना (दो भाग)	पं. सातवलेकर
महाभारत काव्य	"

इत्यादि ग्रन्थों को पढ़ कर स्वाध्याय-चक्र को सार्थक कीजिएगा।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु

ओंशम्